मुम्बय्यां
मणिलाल इच्छाराम देसाई इत्यनेन स्वीये 'गुजराती' पत्रस्य
" न्यूस मुद्रणयन्त्रालये "
मुद्रयित्वा प्रकाशितम् । फोर्ट कालाघोडा, बेन-हाउस लेन.

श्रीकृष्णाय नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ॥



सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।
पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥
म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥
गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥
अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।
लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥
अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।
तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥
नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।
पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥
अजामिलादिदोषाणां नाशकोनुभवे स्थितः ।
ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥
प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।
पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥
विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥
सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।
शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥
कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।
तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रादुर्भावितं कृष्णाश्रयस्तोत्रं सम्पूर्णम् ।

---

१ 'खलधर्मिणि' इतिपाठः । २ 'कृष्ण' इतिपाठः ।

अष्टमपत्रे चरमपङ्क्तितोऽवशिष्टम् ।

उच्यते । सा च स्नेहरूपा । तदुक्तं निबन्धे 'माहात्म्यज्ञाने' त्यस्य व्याख्याने 'रतिः स्नेह' इति । स्नेहस्तु मैत्रैव । न च शाब्दिकोक्तभावार्थविरोधादसङ्गतमिव प्रतिभातीति वाच्यं, निरुक्तेरपि प्रमाणत्वात् । इतरथा 'कृषेर्वर्णे' इत्यनुशासनसिद्धस्य कृष्णशब्दस्यानन्दवाचकत्वं गगनकुसुमायमानं स्यादिति भक्तिसरणिकुशलतमाः परिशीलयन्तु । अधुना देशादिसाधनानामसाधकत्वमिति । अधुना कलावित्यर्थः । आदिपदात् कालद्रव्यमन्त्रकर्तृकर्मणां ग्रहणमितरत्स्पष्टम् । उक्तं च तत्त्वार्थदीपे 'षड्भिः संपद्यते धर्मस्ते दुर्लभतराः कलावि'ति । सर्वसाधनरूप इति, षड्विधसाधनरूप इत्यर्थः । सङ्ख्यातात्पर्यानुरोधेन सर्वपदस्यात्र सङ्कुचितवृत्तित्वात् । दशलीलेति । 'अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः । मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रय' इत्येता दशलीला इत्यर्थः । सर्वमेतच्च द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यामस्मदार्यैर्विवेचितं विस्तरभयाल्लक्ष्यमात्रमेवोच्यते न कृत्स्नम् । तत्र तावदशरीरस्य विष्णोः पुरुषशरीरस्वीकारः

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भगवद्वदनवैश्वानरावतारश्रीवल्लभाचार्यमहाप्रभुपूज्यपादप्रणीत

कृष्णाश्रयस्तोत्र ।

यल्लीलालवसंस्पर्शान्न रोचन्तेऽन्यदाशिषः ।
तं राधाहृदयानन्ददायकं कृष्णमाश्रये ॥ १ ॥
यत्कृपादृष्टितो जन्तुर्गोविन्दं विन्दते मुदा ।
भक्त्याहं तान्निजाचार्यानभिवन्देऽर्थसिद्धये ॥ २ ॥

जिसकी लीलाका लवमात्र (थोडा) भी भलीभाँति सम्बन्ध हो जानेसे (जीवको) अन्यआशिर्वाद रुचिकर नहीं होते, उस, श्रीराधाके हृदयको आनन्ददानकरनेवाले आनन्दरूप श्रीकृष्णका मै आश्रय करता हूँ ॥ १ ॥

जिसके कृपाकटाक्षसे पामर जीव भी विना किसी प्रकारके प्रयत्नसे ही श्रीगोविंदको प्राप्त करता है, उन निज श्रीमदाचार्यचरणोंको मै अर्थ (ग्रन्थसमाप्ति) सिद्धिकेलिये भक्तिपूर्वक अभिवादन करता हूँ ।

ग्रन्थावतरण ।

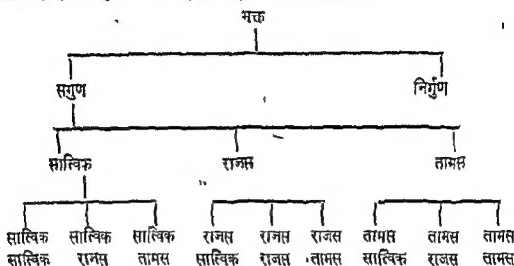
श्रीकृष्णका आश्रय प्राप्त होनेसे (ऐहिक पारलौकिक) सर्वकार्य सिद्ध होते है । निजजनोंके सर्व कार्य सिद्ध हों, इसलिये मानों वरदान करते हों, उस तरह श्रीमदाचार्यचरण कृष्णाश्रयस्तोत्रका निरूपण करते है ।

कृष्णाश्रय में दशश्लोक क्यों हैं ?

इस समय देश, काल, द्रव्य, कर्ता, मन्त्र, कर्म आदि साधनोंके दूषित होजानेके कारण कर्ममार्गादिसाधन सर्वसाधक नही है । भगवद्भक्तों के सर्वसाधनरूप एवं चतुर्विध पुरुषार्थरूप भगवान् ही है । अर्थात् देश, काल, द्रव्य, कर्ता, मन्त्र और कर्म ये छहों साधन एवं धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चारों पुरुषार्थोको मिलानेसे दश सङ्ख्या की पूर्ति होती है, और साथ ही इस ग्रन्थका आशय यह भी है कि साधन और साध्य सब भगवद्रूप है, इसलिये दशश्लोकोंसेही उनकी भगवद्रूपता सिद्ध कीगई है ।

दूसरा कारण यह है कि भगवान् की लीला सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रयरूप दशप्रकार की है, अतः भगवदाश्रयका निरूपण भी दश श्लोकोंसेही करना उचित है ।

तीसरा हेतु यह बताया जाता है कि दशविध भक्तोंसे सेव्य श्रीकृष्ण हैं, यह दश श्लोकों से दर्शाया है। भक्तोंके भेद निम्नाङ्कित चक्र के अनुसार हैं:—



सगुण के नवप्रकार और एक निर्गुणको मिलाकर दशविधभक्तों से सेव्य श्रीकृष्ण हैं।

चौथा प्रयोजन यह है कि– प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय इन दशविध प्राणों से ही सब कार्य सिद्ध होते हैं, अतः सर्वकार्यसाधक कृष्णाश्रयका भी निरूपण दश श्लोकोंसे प्रार्थनाके निमित्तसे श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए किया है।

उपर्युक्त देशादि साधनोंमें काल मुख्य होनेकेकारण सबसे पहिले काल पुरुषार्थ-को सिद्ध नहीं कर सकता यह बतानेकेलिये कालधर्मका निराकरण करते हुए श्रीकृष्णकी प्रार्थना करते हैं—

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि।
पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

अन्वय—कलौ खलधर्मिणि सति, लोके पाषण्डप्रचुरे सति, सर्वमार्गेषु नष्टेषु सत्सु, कृष्ण एव मम गतिरस्तु।

कलिकालके खल (दुष्ट) धर्मयुक्त होनेपर, लोकके विशेष कर पाषण्डी होने पर तथा सर्वमार्गोंके नष्ट होनेपर भगवान् श्रीकृष्ण ही मेरी गति–आश्रय होवै।

कलिकाल खलधर्मी है। खल पुरुष अन्तर्दुष्ट होता है। जो व्यक्ति अन्तर्दुष्ट होता है, वह सत्कार्य में बाधक रहता है। कहीं कहीं "खरधर्मिणी" ऐसा भी पाठ है वहां जिसकी चेष्टा दुःसह हो ऐसा कलिकाल प्रवर्तमान होने पर–सदानन्द भगवान् ही मेरी गति–आश्रय–ऐहिक पारलौकिक अर्थ साधक–होवै। सारा संसार पाषण्डप्रचुर बन गया है, अत एव

सब मार्ग—कर्म ज्ञान आदि पुरुषार्थ के साधन प्रायः नष्ट होगये हैं। कर्मादि मार्ग नष्टप्राय होगये उसका प्रकार निम्नलिखित है—

आध्यात्मिक यज्ञादि कर्म करनेवालेको चित्तशुद्धिद्वारा आत्मसुख—अन्तःकरणकी प्रसन्नता प्राप्त होना—ऐसा जिसका अर्थ है वैसा स्वर्ग प्राप्त होवे, ऐसा वैदिक सिद्धान्त है। उसमें पाषण्डने प्रवेश करके आत्मसुख वाचक 'स्वर्ग' शब्दका 'लोक'के रूपमें भ्रम उत्पन्न किया, उससे कर्ममार्गके द्वारा होने वाली चित्तशुद्धि अटक गई (अर्थात् कर्ममार्ग जो कि आत्मसुखका साधन था, उसको संसार ही जिसका फल है ऐसे प्रवाहमार्गका साधन बना-दिया)। इसीतरह मायावादका आग्रह करके ज्ञानमार्गका, निरीश्वरवादका अङ्गीकार करके योग(साङ्ख्य)मार्गका और विभूतिपरक होनेसे उपासनामार्गका मुख्यफलसाधकत्व नष्ट करने पर सर्वमार्ग नष्ट हो गये।

शङ्का—भक्तिमार्गीय जीवोंको भी कलिकाल बाध करेगा ही, क्योंकि वे भी तो गृहादिमें आसक्त रहते हैं, लौकिक क्रिया करते है, अतः उनको भी पाप लगनेका सम्भव रहता है, तब फिर आप भक्तिमार्ग से उद्धार होना कहते हैं तथा मुख्यफल साधक कह कर सर्वोत्कृष्टताका समर्थन करते हैं वह असङ्गत प्रतीत होता है। भक्तिमार्ग भी कर्मादि मार्गोंके समान ही है, तब भक्तिमार्गीय आश्रय करनेसे भी क्या होगा?

समाधान—आप कहते हैं वैसा दोष भक्तिमार्गमें नहीं है। अतः कलिकाल भक्तिमार्गीय जीवोंकेलिये बाधक नहीं है। प्रत्युत कलिकालमें थोड़े ही समय में फलसिद्धि होने से वह साधकही है। इसके प्रमाण में श्रीमद्भागवतादिके वाक्य विद्यमान हैं।

"हे राजन्! कलिकाल दोष का निधि है, तथापि उसमें एक महान् गुण विद्यमान है, वह यह कि श्रीकृष्णके कीर्तनसे ही मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करता है," "हे राजन्! सत्ययुगमें निरन्तर विष्णुका ध्यान करनेसे, त्रेतायुगमें यज्ञोंसे विष्णुका यजन करने से, और द्वापर में उपासना करने से जो गति प्राप्त होती थी वह कलिकाल में भगवान् के नाम सङ्कीर्तनसे होती है" "गुणज्ञ और सारग्राही आर्यजन कलिकी प्रशंसा करते हैं, क्यों कि कलिकालमें केवळ कृष्णसङ्कीर्तनसे ही सब काम सिद्ध होते हैं।" इत्यादि।

भक्तों को गृहादि बाधक नहीं है।

श्रीमद्भागवतमें कहा है कि—"हे भगवन्! जो भक्त आपके मङ्गलमय नाम तथा रूपका श्रवण करते हैं तथा दूसरोंको सुनाते हैं, स्वयं ध्यान करते हैं तथा सयम क्रियाओं में भी आपके ही चरणकमलमें चित्त लगाकर रहते हैं, उनको पुनः संसारमें आना नहीं पड़ता है। और भी भागवतमें राजा प्राचीनबर्हिके पुत्रोंको भगवान् उपदेश करते हैं कि "हे राजकुमारो! जो मनुष्य गृहस्थाश्रममें रह कर सत्कर्म करते हैं और मेरी चर्चामें ही

रात दिन बिताते हैं उनको यह संसार बन्धन कर्ता नहीं होता है।" इसी प्रकार ब्रह्माजीने भी स्तुति करते हुये कहा है कि "हे कृष्ण! जब तक मनुष्य पूर्णतया आपके हुए नहीं हैं तब तक ही उनको रागादि चोरोंसे भय रहता है, घर कारागृहके समान प्रतीत होता है और मोह बेडियोंके समान" इत्यादि वाक्योंसे सिद्ध होता है कि भगवद्भक्तोंके गृह आदि भगवान्केलिये ही होनेकेकारण वे भक्तोंको बन्धनकारक नहीं होते हैं।

भगवद्भक्तोंकी लौकिक क्रियाएं देखनेमें लौकिकवत् हैं, पर वे सब वास्तविक रूपसे अलौकिकके समान ही हैं। क्यों कि नारदजीने व्यासजीकेप्रति कहा है कि-"सब कर्म, जन्ममरणकी जालमें फँसादेनेवाले हैं, अर्थात् कर्म द्वारा कर्मबन्धनसे मुक्त होनेकी आशा व्यर्थ है, तथापि यदि वे कर्म श्रीकृष्णप्रीत्यर्थ किये जाँय तो अवश्य मोक्षदायक सिद्ध हो सकते हैं" इस प्रमाणके अनुसार भक्तोंके कर्म श्रीकृष्णप्रीत्यर्थ ही होनेके कारण लौकिक प्रतीत होनेपरभी उनको अलौकिकके समान ही मानना उचित है।

असमय में भी वैदिक क्रिया कर सकते हैं।

यदि भगवत्सेवाके समयमें वैदिक क्रिया न हो सके तो समयका अतिक्रमण हो जानेसे प्रत्यवाय नहीं होगा। क्यों कि स्वयं भगवान् ही श्रीमुखसे आज्ञा करते हैं कि "मेरी सेवा करते करते यदि वैदिक क्रियाका काल लोप होजाय, तो उस भगवत्सेवापरायण भक्तका लुप्त-काल कर्म तीन करोड महर्षि करलेते हैं", इस वाक्यसे ज्ञात होता है कि भगवत्सेवा करते हुए यदि वैदिक कर्म यथासमय न हो सके तो उससे प्रत्यवाय नहीं है। इसी प्रकार "भगवान् हृदयमें प्रविष्ट होकर सब पापोंको धोते हैं" "वे भगवदीय मेरे दण्डके पात्र नहीं बनते" इत्यादि वाक्योंसे भी यही सिद्ध होता है कि कदाचित् पाप लग भी जाय तो पातकका फल जो नरकादि होना चाहिये वह भक्तों को भोगना नहीं पडता (किन्तु स्मरण रहे कि यदि कोई दम्भसे वैदिक क्रियाओंका त्याग करता है तो वह अवश्य नरक गामी होता है) भगवद्भक्त कीर्तनादिसे ही पापोंको नष्ट करदेते हैं।

आचार शैथिल्य।

प्रपत्ति–शरण–मार्गनिष्ठ जीवों से कदाचित् आचारादिका यथोचित पालन न हो तोभी फलसिद्धि होती है। इसविषयमें अर्जुनके प्रति भगवान् आज्ञा करते हैं कि "हे अर्जुन सब तरहसे अन्य सब धर्मोंका त्याग करके मेरे शरण जा" "अत्यन्त दुराचारी भी यदि अनन्यरूपसे मेरा भजन करता है तो उसको साधुपुरुष समझना चाहिये। क्यों कि उसका निश्चय उत्तम है" इन भगवद्वाक्यों से, तथा लोकमें मिथ्याचारी, अनाश्रमी होनेपर भी यदि भगवद्भक्त है, तो वह जिस प्रकार सूर्योदय होनेसे सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है उसी तरह सारे संसारको पवित्र करता है। इसी प्रकार "हे राजन्! भगवद्धर्ममें आस्था–श्रद्धा-रखनेवाला कभी

प्रमादी होता नहीं है, इतनाही नहीं परन्तु यदि वह आँखें बन्दकर के दौडे तो भी उसको न कहीं ठोकर लगनेका भय रहता है न फिसलनेका।" इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है, कि प्रपत्ति मार्गमें आचारादि के अभावमें भी फल सिद्धि होती है।

भक्ति समग्र सिद्धिओंका जीवन है।

श्रीमद्भागवतमें कहा है कि "हे महर्षियो! भलीभाँति किये हुए यज्ञादि कर्म भी यदि भगवान् में भक्ति उत्पन्न न कर सकें तो वह केवल श्रम ही है ऐसा समझना चाहिये।" "सत्य और दया से युक्त धर्म तथा तप से प्राप्त की हुई विद्या भी मेरी भक्ति से विहीन मनुष्यको भलीप्रकार पवित्र नहीं बना सकती"। "अच्युत-भगवान् के भाव विना जो निरञ्जन ज्ञान प्राप्त होता है वह भी भलीप्रकार शोभायमान नहीं होता है, तब जो कर्म श्रीकृष्ण को अर्पण नहीं किया जाता वह कैसे सुशोभित होसकता है? फिर चाहे वह कैसा ही निष्काम क्यों न हो?" "विविध कामनाओंसे परास्त पुरुषकी आत्मा जिस तरह श्रीमुकुन्दकी सेवा करके शान्ति प्राप्त करती है उस प्रकार यमनियमादि सम्पन्न योगमार्गसे शान्तिलाभ नहीं कर सकती।" ब्रह्मस्तुति में ब्रह्माजीने भी कहा है कि, "हे भगवन् सकलकल्याणकारिणी आपकी भक्तिको छोड़कर जो लोग विना प्रेमके केवल शुष्क ज्ञानकेलिये क्लेश सहन करते हैं उनको परिणाममें भी क्लेश ही सहन करना पड़ता है, जैसे धान्यके विना छीलकों को कूटनेवालेको परिणाम में छीलकोंके चूर्णके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं मिलता" इन विविध प्रमाणों से सिद्ध होता है कि भक्तिके विना कर्म, ज्ञान, कुछ भी सिद्ध नहीं कर सकते। परन्तु यदि वे भक्तिका सहयोग करें तो सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। अत एव भक्तिही सकल सिद्धिओंका जीवन है।

निःसाधन भक्ति भी सर्व साधिका है।

श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध, अध्याय बीस श्लोक बत्तीस और तैंतीसमें कहा है कि "हे उद्धव! कर्मकाण्ड, तपस्, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान, और इसी प्रकार अन्य भी कल्याणके साधनों द्वारा जो जो कार्य सिद्ध किये जाते हैं, वह सब मेरा भक्त अनायास ही भक्तियोगसे प्राप्त करता है।" इसी तरह गीतामें भी कहा है कि "हे अर्जुन! आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी यह चार प्रकारके पुरुष मेरा भजन करते हैं।" श्रीमद्भागवतमें शुकाचार्य भी कहते हैं कि अकाम हो, सर्वकाम हों या मोक्षकी कामनावाला हो, चतुर पुरुष को तीव्र भक्तियोग से परपुरुष का भजन करना चाहिये।" ब्रह्माजीने भी भक्तकी प्रशंसा करते हुए कहा है कि "जो लोग ज्ञान प्राप्त करने की इच्छासे परिश्रम न करके भक्तोंके मुखसे निकली हुई भगवान्की पवित्र कथाओंका कानसे श्रवण करते हैं तथा देह, मन, वाणीसे उसका आदर करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं वैसे भक्त, हे अजित! यद्यपि आप तीनों लोक में अजेय हैं तथापि आपको सहज ही में जीत लेते हैं।" "श्रीपति भगवान्के प्रसन्न

होने पर क्या अप्राप्य रहता है? तथापि हे राजन्! भगवान्‌के भक्त भगवान् की सेवाके विना अन्य कुछभी चाहते नही हैं।" "सर्वदुःखहर्ता प्रभु अपने भक्तको रूप, आरोग्य, और अर्थ भी प्रदान करते हैं।" ये सब वाक्य नि साधन भक्ति भी सर्व साधिका है ऐसा सिद्ध करते हैं, भक्ति सर्व साधिका है, इतनाही नहीं, किन्तु स्वयं ही फलरूपा है। इसका समर्थन निम्नाङ्कित वाक्य करते हैं। श्रीमद्भागवत द्वितीयस्कन्ध प्रथमाध्याय नवम श्लोक में कहा है कि–"निर्गुणतामें परिनिष्ठित रहने पर भी मुझे प्रभुकी लीलासे आकृष्ट होकर भागवतशास्त्रका अध्ययन करना पड़ा।" और प्रथमस्कन्ध सप्तमाध्यायके दशम श्लोकमें वर्णन किया है कि "श्रीहरिके गुण ही ऐसे मनोमोहक हैं, कि आत्मामें रमण करने वाले जीवन्मुक्तों को भी प्रभुकी निष्काम भक्ति करने की इच्छा होती है।" इसी तरह तृतीयस्कन्ध पंचविंशाध्यायके चौतीसवे श्लोकमें भगवान् कपिल ने मातृचरण देवहूतिको उत्तम भक्तिका लक्षण समझाते हुए कहा है, कि "मेरी चरण सेवामें तत्पर रहने वाले, मेरेलिये ही सब कर्म करनेवाले और सर्वदा एकत्रित होकर परस्पर प्रेमपूर्वक मेरी कथा कहने में आनन्द प्राप्त करनेवाले ऐसे विरल भक्त मेरे साथ एकात्मभावकी–मोक्षकी भी इच्छा करते नहीं हैं" इत्यादि वाक्य भक्ति स्वयं ही फलरूपा है, इस सिद्धान्त को दृढ करते हैं।

आधुनिक समय में कर्मादि मार्गो के अधिकार नष्ट हो जाने के कारण अनधिकारी को कर्मफल प्राप्त नहीं होता है। अतः यदि कर्मादि मार्गोंके अनुसार भी भक्तिमार्ग में रहकर आचरण किया जाय तो अधिकार भेदसे उन मार्गोंमें कहा हुआ गौण अथवा मुख्य फल मिलनेका सम्भव रहता है। भक्तिमार्गमें भक्तको अनुग्रहसे ही अधिकार प्राप्त हो जाता है। यही उपदेश आचार्यचरणोंने निबन्धमें किया है। आपकी आज्ञा इस प्रकार है "इस कलिकाल में सब अधिकार निवृत्त हो गये हैं, पर यदि प्रेम पूर्वक सेवा की जाय तो वह कलियुग भी श्रीकृष्णके भक्तको फलसाधक हो जाता है"। इस वाक्यसे यह भी ज्ञात होता है कि कर्मादिसाध्यफल भक्तिमार्गमें अनिच्छा से भी भक्तको प्राप्त होजाता हैं, जब कि भक्तिसाध्यफल अन्य मार्गो से सम्पन्न नही होता है। इससे सिद्ध होता है कि अन्यमार्गोंकी तुल्यताका गन्ध भी भक्तिमार्गमें नहीं है।

अब यहां शङ्का होती है कि, कर्मादि मार्गोंकी अपेक्षा उत्कृष्टता भक्तिमार्गमें यदि है भी तो रहने दीजिये, परन्तु उसमें अर्वाकृत से तो कर्मादि तुल्यता होनीं चाहिये। इस शङ्काका समाधान करते हुए कहते हैं कि "विष्णु सतत स्मरणीय है, कभी विस्मरणीय नहीं है, इस प्रकार सदा विष्णुका स्मरण करनेवालेके सब विधि और निषेध किङ्कर हो जाते हैं।" "जिस मार्गमें स्मृति मात्रसे सकल कल्याणके भाजन प्रभु होजाते हैं उस अजन्मा पुरुष श्रीहरिको मैं शरण हूँ।" "हे श्रीकृष्ण, कृष्ण, कृष्ण, इस प्रकार जो मेरा स्मरण करता है उस जीवका मैं, जलको भेद कर कमल जिसतरह ऊपर निकलता है उसीतरह नरकसे उद्धार करता हूं।"

"हे माधव, आपके जन अन्यकी तरह जन्म मरणके चक्रमें नहीं गिरते ।" "सब शास्त्रोंका मथन करके और वारंवार उनका विचार भी करके एकबात निश्चित हुई है कि नारायण ही सदा ध्यान करने योग्य है ।" इत्यादि वाक्योंसे सिद्ध होता है कि यदि सर्वांशमें भक्ति न कीगई हो, थोडी भी कीगई हो, तोभी वह भक्ति फलसाधिका है, कर्मादिमार्गमें ऐसा नहीं है । अतः प्रकृत विषयमें इतने ही प्रमाण पर्याप्त हैं ॥ १ ॥

पवित्र देश में निवास करनेसे भी धर्मादि पुरुषार्थकी सिद्धि हो सकती है, और आप कहते हैं कि अन्य सब साधनोंका त्याग करके श्रीकृष्णका ही आश्रय करना चाहिये इसमें प्रमाण क्या है ? इस शङ्काका समाधान करते हुए कहते हैं कि पुण्यस्थान भी इस समय पुरुषार्थसाधक नहीं हैं; यही बात श्रीमदाचार्यचरण आज्ञा करते हैं—

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

अन्वयः—देशेषु म्लेच्छाक्रान्तेषु सत्सु च पापैकनिलयेषु, सत्पीडाव्यग्रलोकेषु, कृष्ण एव मम गतिः अस्तु ।

देश म्लेच्छोंके अधीन हैं । माना कि म्लेच्छोंने देशपर आक्रमण किया है, पर यदि म्लेच्छ भी न्यायपरायण हों तो आपकी क्या हानी है ? इस आक्षेपका उत्तर देते हैं कि म्लेच्छ तो मूर्तिमान् पाप ही हैं, और पुण्यस्थान पापरूप म्लेच्छोंके मुख्यस्थान (राजधानी) बने हैं; दूसरा अर्थ किया जाय तो पापियोंका अथवा पापोंका घर हैं, तीसरा अर्थ यह है कि अङ्ग वङ्ग आदि देश म्लेच्छों के अधीन हैं और पाप के भी मुख्य स्थान बन गये हैं, कि जहां जानेसे ही पुनःसंस्कार प्राप्त होता है । यहां यह भी शङ्का हो सकती है कि पुण्य स्थलोंमें भी वणिक् आदि जातिके भले आदमी रहते होंगे, तो फिर म्लेच्छोंसे क्या मतलब है ? इसका समाधान इस प्रकार करते हैं कि वणिक् आदि लोक भी स्वधर्माचरण करनेवालों पर जो आफतें आती हैं उनको देखकर किङ्कर्तव्यविमूढ बन गये हैं, अर्थात् स्वधर्मनिष्ठपर जो आफतें आती हैं उनको देख कर स्वधर्माचरण न करना चाहिये या लौकिक कार्य न करना चाहिये इसका निर्णय वे लोग नहीं कर सकते । अर्थात् सद्धर्मसे अच्छा ही होगा ऐसा निश्चय उन लोगोंमेंसे चले जानेके कारण धर्म विषयक श्रद्धादिके अभावमें धर्माचरण करनेवालोंको वे सहायक भी नहीं होते हैं । अतः श्रीकृष्णके आश्रयके बिना पवित्र देशोंपर अपने उद्धारका आधार रखना निरर्थक है । श्रीकृष्णका आश्रय करनेवालेको देश भी अनुकूल हो जाते हैं । अत एव श्रीमद्भागवतमें देवोंने "कृष्णसेवा करनेकेलिये भारतवर्षमें मुकुन्दसेवोपयोगी देह प्रदान कीजिये, हम भी भूमिपर जन्म लेना चाहते हैं" ऐसा कहा । इस प्रकार पुण्यभूमिमें स्थिति करनेसे भी पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं होती है, अतः

श्रीकृष्णका आश्रय ही करना उचित है, अतः मेरा आश्रय श्रीकृष्ण ही हो, ऐसी प्रार्थना श्रीमहाप्रभुजी करते हैं॥ २॥

गङ्गादि तीर्थ भी सर्व पुरुषार्थ सिद्ध करनेवाले माने गये हैं, तो फिर आश्रयकी प्रार्थना किसलिये करते हैं? इस प्रश्नके उत्तरमें पूर्वोक्त देशादि छः प्रकारके साधनोंमें से तृतीय साधन द्रव्य भी फलसिद्धि नहीं करता है यह दर्शानेकेलिये तीर्थ भी साधक नहीं हैं ऐसा निरूपण करते हैं:—

गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम॥ ३॥

अन्वयः—इह गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेषु सत्सु तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव मम गतिरस्तु।

गङ्गा आदि मुख्य तीर्थ दुर्जनोंसे ही आवृत हैं। गङ्गादि तीर्थोंमें ब्राह्मणादि भी रहते हैं, तब आप यह कैसे कह सकते हैं कि सब तीर्थ दुष्टोंसे ही सेवित हैं? ब्राह्मणादि की स्थिति वहां नित्य रहती है इस कारण अतिपरिचयसे उनकी तीर्थोंकेप्रति आदर-बुद्धि कम हो जाती है, तथा वे दान दक्षिणादिसे निर्वाह करते हैं, इसलिये उनके पीछे भी उपाधियाँ लगी ही रहती हैं, अतएव उन में भी दुष्टता रहती ही है। सर्वविध दोषोंको दूर करनेवाले तीर्थ वहां विद्यमान हैं तो फिर उनमें दोष किस प्रकार रह सकता है, ऐसी शङ्का भी नहीं हो सकती। उसका कारण यह है कि उनमें स्थित भगवानसे बहिर्मुखता तथा नास्तिकता आदि दोषोंका निवारण तीर्थ भी कर नहीं सकते। यह बात निम्नलिखित प्रमाणोंसे सिद्ध होती है। "सौ बार अच्छी तरह मिट्टी लगाकर जन्मसे आजतक प्रतिदिन स्नान करने-वाला भावदुष्ट मनुष्य, गङ्गाके सम्पूर्ण जलसे भी शुद्ध नहीं हो सकता। ऐसा हम निश्चित रूप से कह सकते हैं; मत्स्यादि जलमें रहनेवाले प्राणी रातदिन (गङ्गाआदिके) जलमें ही रहते हैं, परन्तु वे कभी स्नानके फलको प्राप्त नहीं कर सकते।" "मनुष्य जो कर्म श्रद्धा और विधिपूर्वक शुद्ध भावसे करते हैं, वही उसके अक्षय सुखकेलिये कल्पित होते हैं; अर्थात् उन्हींसे उनको अक्षय सुखकी प्राप्ति होती है।" "विधि और श्रद्धासे रहित और भावदुष्ट किये हुए कर्मका फल मनुष्यको प्राप्त नहीं होता है; इसका कारण यह है कि वैसे कर्मका फल असुर हरण करलेते हैं। अतः विधिहीन और भावदुष्ट कर्म करनेवाला अत्यन्त मूढ तथा अकृतार्थ समझना चाहिये। श्रद्धारहित, दुष्ट अन्तःकरणवाला, नास्तिक, संशयग्रस्त और कारणवादी ये पांचों तीर्थके फलको प्राप्त नहीं करते हैं।" "जिस तरह गङ्गा आदि नदियां मदिरासे पूर्ण घटको पवित्र नहीं बनादेती है, उसी तरह नारायणसे विमुख मनुष्यको कोई भी प्रायश्चित पवित्र नहीं कर सकता।" ये सब आदित्य पुराण, योगियाज्ञवल्क्य, वायुपुराण तथा श्रीमद्भागवतके वचनों से सिद्ध होता है, कि तीर्थों में भगवान् से बहिर्मुख तथा नास्तिक मनुष्यको पवित्र बनानेकी सामर्थ्य नहीं होती है।

यहां इस तरह शङ्का होती है कि—वस्तुमें शक्ति होनेपर कार्य अवश्य होता है, वह हुए विना रहता ही नहीं, जैसे दाहकत्व शक्ति अग्नि में विद्यमान है, और, वह जलाती नहीं ऐसा कभी नहीं हो सकता। इस नियम के अनुसार तीर्थमें पवित्र करने की शक्तिके विद्यमान रहते वे पवित्र नहीं कर सकते, ऐसा कदापि न होगा।

इसका समाधान करते हुए आचार्यचरण आज्ञा करते हैं, कि तीर्थों में पवित्र करने॰ वाला जो आधिदैविक स्वरूप है वह तिरोहित हो गया है, अतः तीर्थ उनको पवित्र नहीं कर सकते। तीर्थोंका आधिदैविक स्वरूप सत्पुरुषोंके सम्पर्कसे ही प्रादुर्भूत होता है, अत एव निबन्ध में आपने कहा है कि "काशी आदि तीर्थोंमें किसी समय किसी एकाध की मुक्ति होती है तब समझना चाहिये कि जीवके ऊपर प्रभुने अनुग्रह किया है।" प्रभुके अनुग्रहके विना किसी की भी मुक्ति नहीं होती है। प्रभु तीर्थोंका माहात्म्य बढ़ानेके लिये तीर्थोंके द्वारा भी किसीको मोक्ष प्रदान करदेते हैं। और श्रीमद्भागवत में भी कहा है कि भगवद्भक्त तीर्थोंमें स्नान करते समय अपने हृदयकमल में विराजमान प्रभुके साथ तीर्थोंका सङ्ग करा कर तीर्थों को पवित्र बनाते हैं। अर्थात् तिरोहित आधिदैविक स्वरूप उनमें प्रकट कर देते हैं, इसको तीर्थीकरण कहते हैं। अन्य प्रकारसे तीर्थों को और क्या तीर्थ बनाना है? जल में कुछ दोष तो दिखाई देते ही नहीं। इस प्रकार द्रव्यस्वरूप तीर्थों में भी स्वतन्त्ररूपसे पुरुषार्थ सिद्ध करने की सामर्थ्य विद्यमान नहीं है अतः श्रीकृष्णका आश्रय ही रक्षणीय है ॥ ३ ॥

यदि कर्म करनेवाला अच्छा हो तो सब फल प्राप्त हो सकता है। तो फिर अन्य का निषेध कर आश्रयकी ही प्रार्थना क्यों? इस शङ्काका समाधान करके कर्मकरने वालोंका स्वरूप भी फल सिद्ध नहीं कर सकता, यही बात चतुर्थ श्लोक में निरूपण करते हैं:—

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु।
लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अन्वयः—सत्सु अहङ्कारविमूढेषु पापानुवर्तिषु लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्णः एव मम गतिः अस्तु।

अहङ्कारके वशीभूत पण्डितगण—हम ही शास्त्रज्ञ हैं अन्य कोई नहीं—इत्यादि प्रकार के मिथ्याभिमानसे विमूढ हो गये हैं। जिस तरह उनका ज्ञान अभिमानके हो जाने से दूषित हो गया है, वैसे ही उनकी कृति भी दूषित हो गई है। इसका कारण यह है कि वे लोग द्रव्यादि का लाभ और पूजा के लिये ही यत्न करने वाले होते हैं। विष्णुयागादिक पारमार्थिक कर्म भी वे लोग ऐसा समझकर ही करते हैं कि—इससे हमको द्रव्य प्राप्त होगा और लोकमें प्रतिष्ठा बढ़ेगी। साथ ही दुष्ट पुरुषोंका सङ्ग करनेसे सङ्गजन्य दुष्टता और पापका अनुसरण करनेसे अन्नजन्य दुष्टता इसप्रकार दोनों प्रकारकी दुष्टता उनमें होनेसे वे पण्डित भी स्वतन्त्रतासे पुरुषार्थ सिद्ध नहीं कर सकते। परन्तु भगवदाश्रय करके भगवत्कृपासे वैराग्य और स्वदोष की स्फूर्ति होने

होता हैं। क्योंकि इन वाक्यों में जीव को प्रवृत्त कराने वाला, सारे जगत् की उत्पत्ति का कारण, जीवमात्रके लिये सेव्य, सर्वविध कर्मोका फलदाता एकमात्र भगवान् ही है ऐसा कहा है। सब जैमिनिके मतके अनुसार उपपन्न नहीं हो सकता इसी तरह यज्ञोंसे देवों की तृप्ति तथा देवोने यज्ञ किया ऐसा प्रतिपादन भी किया गया हैं। अतः यह भी स्वीकार करना चाहिये कि मन्त्रकी देवता मन्त्रसे पृथक् हैं और वह चेतन रूपा है।

"हे अर्जुन! उसके पश्चात् मुझे तत्त्वतः जानकर मेरेमें प्रवेश करते हैं।" "हे अर्जुन! तू मुझे ही प्राप्त करेगा।" "ब्रह्मका आकार आनन्द है" इन वाक्योंमें भगवत्सायुज्यको मोक्ष कहा है। तथा आनन्दाकार होनेके कारण भगवान्‌को ही फल कहा है। जिसमें आनन्दका अनुभव हो वही फल है अतः न्याय और साङ्ख्य मत भी श्रौतसिद्धान्तके अनुकूल नहीं है ऐसा सिद्ध होता है।

इस तरह भिन्न भिन्न वादोंके द्वारा जो कर्म का विनाश हुआ है उसका दिग्दर्शन कराके अब उन वादोंके द्वारा जो व्रतादिका विनाश किया गया है वह भी बताते हैं स्वमत के आग्रह से वे लोग एकादश्यादि व्रत भी दशमीके वेध से युक्त ही करते हैं, जिसका कि शास्त्रों में पूर्ण निषेध है। इस प्रकार व्रतोका भी विनाश हो चुका है। यद्यपि व्रत भी एक प्रकारका कर्म ही है तथापि वह ज्ञानादिका अङ्ग होने से यहां उसका कर्मसे पृथक् उपादान किया गया है।

अब यहां शङ्का उपस्थित होती है कि एकादश्यादि व्रत करनेका वे लोग भी उपदेश करते हैं और स्वयं भी करते हैं, यदि वे लोग व्रतों को मिथ्या, फलरहित मानते होते तो वे क्यों आचरण करते हैं और उपदेश करते है? साथ ही उन मतोंके प्रवर्तक शङ्कर जैमिनी गौतम आदि हैं। यह शङ्का भी अयुक्त है क्योंकि उनका प्रयास पाखण्डका प्रचारकरनेके लिये ही है। यह बात वाराह पुराण के "हे महाबाहु रुद्र! तुम मोह शास्त्रों की रचना कराओ और सत्यको मिथ्या बताओ, अपने स्वरूप का प्रकाश करो और मुझे गुप्त रहनेदो" इस सार्धश्लोकसे[1] तथा पद्मपुराणके "त्वामाराध्य तथा शम्भो गृहीष्यामि वरं सदा। द्वापरादौ युगे भूत्वा कलया मानुषादिषु ॥ स्वागमैः कल्पितैस्त्वं च जनान् मद्विमुखान् कुरु। मां च गोपय येन स्यात्सृष्टिरेषोत्तरोत्तरा ॥" हे शम्भो! द्वापरादियुगमें मैं कलात्मक अवतार लेकर मनुष्यादिकमें तुह्मारा आराधन करके वर ग्रहण करूंगा और आपको नवीन शास्त्रोंकी कल्पना करके लोगोंको मेरेसे विमुख करना चाहिये, और मेरे स्वरूपको छिपा-

१ त्वं च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारय।
अतथ्यानि वितथ्यानि दर्शयस्व महाभुज ॥
प्रकाशं कुरु चात्मानमप्रकाशं च मांकुरु ॥

कर अपना स्वरूप ही प्रगट करना चाहिये, ताकि यह सृष्टि उत्तरोत्तर चलती रहे। इस भगवदाज्ञाके अनुसार शङ्करादिकी प्रवृत्ति है, वे लोग भी जो कर्म करते हैं वह भी अपनी महत्ता दर्शानेकेलिये ही करते हैं,साथ ही उनका यह भी उद्देश रहता है कि उनके अनुयायी भी वैसा ही कर्म करें। यदि ये लोग स्वयं वैसा न करके अनुयायियोंको ही उपदेश करें तो उनका कोई मानेगा भी नहीं। गीतामें भी कहाहै कि "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरे जनाः।" अर्थात् जिस प्रकारका आचरण महत्पुरुषोंका रहता है, उसी प्रकारका आचरण अन्यलोग भी करते हैं। इसी न्यायके अनुसार यदि वे स्वयं न करें तो उनके उपदेशके अनुसार अन्यलोग कैसे चल सकते हैं? शङ्करादि मतप्रवर्तकोंके द्वारा आधुनिक लोगोंमें मोह उत्पन्न हो गया है।

ये मतप्रवर्तक प्रायः सब देवता हैं—तो फिर आप देवताओंसे प्रवर्तित मतोंको पाखण्डमत क्यों कहते हैं? ऐसी शङ्का भी उपस्थित नहीं हो सकती। क्यों कि मतप्रवर्तक देवता है इतना एकमात्र कारण रहने से ही वह मत सम्मत है ऐसा नहीं कह सकते। किन्तु जो मत वेदसे विरुद्ध न हो और वेदमूलक हो उसीको सम्मत कह सकते हैं। अन्यथा बृहस्पति प्रवर्तित चार्वाक (नास्तिक) मतको भी सम्मत कहनेकी आपत्ति उपस्थित होगी। इस तरह प्रसक्तानुप्रसक्तसेही अटकना ठीक है। ये विविधवाद भी कर्मफलसाधक नहीं हैं; अतः मेरी गति-आश्रय—श्रीकृष्ण ही है ॥ ६ ॥

धर्मसे पाप दूर होता है" "धर्ममें सब प्रतिष्ठित है" यह श्रुति पहिले जीवको दोष निवृत्तिकेलिये धर्माचरण करनेकी अवश्यकता बताती है। यह ठीक भी है, कि धर्माचरणके द्वारा चित्तशुद्धि होनेसे भगवन्माहात्म्य तथा भगवत्स्वरूपको समझकर ही भागवदाश्रयादि करने चाहिये, नकि पूर्वकी दोषयुक्त अवस्थामें। कहां योगियों को भी अगम्य भगवत्स्वरूप और कहां यह दोषयुक्त जीव, वह उसको कैसे प्राप्त कर सकता है? इस तरह शङ्का करके "जिसको यह भगवान् वरण करते हैं उसीको वह लभ्य है।" "हे रहूगण! भगवान्के स्वरूपकाज्ञान, तपसे वा वैदिक कर्मोंसे, अन्नादिके दानसे परोपकारसे, वेदाध्ययनसे, जल, अग्नि और सूर्यादिकी उपासनासे प्राप्त नहीं होता है। परन्तु भगवद्भक्तोंके चरणकी रज शिरपर धारण करनेसे ही—अर्थात् भक्तोंकी सेवा करनेसे ही—प्राप्त होता है।" "हे अर्जुन! मेरी अनन्य भक्तिसे ही मेरे स्वरूपका सम्पूर्ण ज्ञान, जैसा कि तुझे हुआ है, मनुष्य को हो सकता है। हे परन्तप! भक्तिसे ही मैं तत्त्वतः ज्ञात हो सकता हूं और वे जीव (जिन्होंने मेरा स्वरूप तत्त्वतः जानलिया है) मेरे भीतर प्रवेश कर सकते हैं।" इत्यादि वाक्य स्पष्टतया यह सिद्धान्त दर्शाते हैं कि भगवदीयके अनुग्रहसे सदोषजीवको भी भगवत्स्वरूप गम्य हो सकता है, इसलिये, और भगवान्का माहात्म्य भी शास्त्रोंमें वैसा ही—अधमोद्धारक आदि—प्रसिद्ध है इसलिये भी सदोषजीवोंकेलिये दोषनिवृत्तिके अर्थ प्रायश्चित्तादि नहीं, पर महापुरुष, श्रीमदाचार्यचरण एवं उनके वंशजनके द्वारा शरण ग्रहण करना ही है। उसीसे सब कुछसिद्ध हो जायगा। अर्थात् भक्तोंके धर्मादि चतुर्विध पुरुषार्थरूप भगवान् ही होने के कारण भक्तोंको भगवान्के आश्रयके अतिरिक्त कुछ कर्तव्य शेष नहीं रहजाता है।

पर फल सिद्धि कर सकते हैं, क्यों की वेदका तात्पर्य भगवान् या भगवद्भक्त जानते हैं, ऐसा होनेसे भगवदीय होनेसे ही वेदका तात्पर्य समज सकते हैं। इस तरह भगवदाश्रयके विना पण्डित भी कुछ सिद्ध नहीं कर सकते। अतः श्रीकृष्ण ही मेरा आश्रय होवे ॥ ४ ॥

सुनते है कि शास्त्रों में मन्त्रों से फल सिद्धि बताई है, तो फिर आश्रय ही करनेकी क्या आवश्यकता है? मन्त्रों की शक्ति भी नष्ट होगई है, अतः मन्त्र भी कुछ नहीं कर सकते यह दर्शाते हैं:—

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु।
तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

अन्वयः—मन्त्रेषु अपरिज्ञाननष्टेषु अव्रतयोगिषु तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव मम गतिः अस्तु।

वेदोक्त तथा नारदपंचरात्रादि आगमोक्त मन्त्र; तात्पर्य, फल तथा देवताके स्वरूपज्ञानके अभावसे नष्ट हो गये हैं। वैदिकमन्त्र नियमपूर्वक पढे नही जाते, अतः उनका सामर्थ्य नष्ट हो गया है। वेदाध्ययनके नियम गुरुकुलमें निवासकरना, ब्रह्मचर्यपालनकरना, शूद्रोंके सामने न पढना, अनध्यायके दिनोंमें न पढना इत्यादि है। तान्त्रिक मन्त्रोका तात्पर्यही समझमें नहीं आता है, अतः उसका अर्थ और फल समर्पक देवता उन मन्त्रोंसे तिरोहित हो गई हैं, इस तरह तांत्रिक मन्त्रोंका भी सामर्थ्य नष्ट हो गया है। तथापि भगवान्का ही आश्रय रखनेवालेको मन्त्रोंसे भी फल प्राप्त होता है। इसके विषयमें "जिसके स्मरणसे और नामका उच्चारण करनेसे कर्म की त्रुटि पूरीकी जाती है, उस अच्युत भगवान् को मैं प्रणाम करता हूं।" इत्यादि वाक्य प्रमाण है। इस तरह मंत्र भी नष्ट सामर्थ्यवाले होनेसे मेरा आश्रय श्रीकृष्ण ही है ॥ ५ ॥

मीमासा आदिसे मंत्रोके अर्थका निर्णय करके कर्मसे ही फल प्राप्त हो सकता है तो फिर आश्रय की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार शङ्का करके कर्म भी फल साधक नहीं है यह जतानेकेलिये नीचेके श्लोकसे आश्रयकी प्रार्थना करते हैं:—

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु।
पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

अन्वयः—सर्वकर्मव्रतादिषु नानावादविनष्टेषु पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव मम गतिरस्तु।

सोमयाग आदि सब कर्म और एकादशी आदि सब व्रत विविध वादोंसे नष्ट हो चुके हैं। वे वाद इस प्रकार है—

(१) सारा प्रपञ्चमिथ्या है, अर्थात् वेदभी प्रपञ्चमध्यपाती होनेके कारण मिथ्या हैं, अत जैसे प्रपञ्च व्यावहारीक होनेके कारण व्यवहारमें ही प्रमाण है वैसेही वेद और वेद-

विहित कर्मको भी व्यवहारमें ही प्रमाण मानना चाहिये। वास्तविकरीतिसे कुछभी करनेका या प्राप्तकरनेका नहीं है।

(२) पूर्वमीमांसाकारका मत है कि "परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोग्रे" इत्यादि वाक्योंसे ब्रह्मा आदिका उत्कर्षभी यज्ञोंके द्वारा ही सुना जाता है। और उत्तरोत्तर कर्ममें प्रवृत्त होनेमें पूर्ववासना ही कारण होनेसे कर्म ही करना चाहिये। कर्मसे ही फलसिद्धि होगी। कर्मके अतिरिक्त अन्य कुछ भी उपास्य, फलदाता; किंवा प्रवर्तक नहीं है। इसी तरह मन्त्रकी देवता भी मन्त्रसे पृथक् चेतनरूपा कोई नहीं है, किन्तु मन्त्ररूपा ही है। अर्थात् किसी देवताकी कृपा सम्पादन करके किसी प्रकारके फल की प्राप्ति करनेके लिये भी कर्मके अतिरिक्त कुछ भी करनेकी आवश्यकता नहीं है। किन्तु उपर्युक्त प्रकारसे उपास्य, फलदाता या प्रवर्तक सब कुछ कर्म ही है।

(३) नैयायिकों का मत है कि शास्त्रसे प्रमाण प्रमेय आदि सोलह पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके उसका श्रवण मनन और निदिध्यासन करनेसे आत्माका साक्षात्कार होता है, तब दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्ति होकर जाती है, यही फल है। ईश्वरोपासना करनेकी अथवा ईश्वरको ही फलरूप माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

(४) निरीश्वर वादी साङ्ख्योंका मत है कि प्रकृति और उसके विकारों की उपाधिका विलय करके पुरुष जब अपनी स्थिति करता है वही फल है, भगवान् फल नहीं है।

इस तरह भिन्न भिन्न प्रकारके वाद प्रचलित है। इनसे विशेषकर कर्मोका नाश किया गया है। अतः उलटा ही अर्थ ग्रहण कर लेनेसे कर्म भी फलोत्पादक नहीं रहे। सचा वैदिक सिद्धान्त देखनेसे ये सब वाद एक प्रकारके प्रलाप की तरह प्रतीत होते हैं। क्योंकि "यह सब पुरुष ही है" "यह सब ब्रह्मात्मक है" यह भगवान् सबको वशीभूत रखता है सबके ऊपर शासन करता है, इत्यादि वाक्य यह सब प्रपञ्च ब्रह्मरूप है, और अत एव सत्य हैं, इसलिये कर्म भी सफल है यह बताते हैं। अत एव शाङ्कर सिद्धान्त उपपन्न नहीं होता है।

"भगवान् उसी से अच्छे कर्म कराता है जिसको ऊंची गति से लेजाना है। और उसीसे निकृष्ट कर्म कराता है जिसको अधोगति से ले जाना है।" "हे अर्जुन में ही समग्र जगत् की उत्पत्तिका कारण हूँ" "भला ऐसा कौन देह धारी है जो मुकुन्द भगवान् का भजन न करेगा।" "देव हो, असुर हो, मनुष्य हो यक्ष या गन्धर्व हो, मुकुन्द भगवान् के चरणों की सेवा करके मोक्ष को प्राप्त करते हैं। "भगवान् ही सबके फल दाता हैं, क्योंकि जो सबका नियामक हो वही फलदाता सकता हैं। यज्ञ तृप्त हुए देवता यज्ञ करनेवाले को तृप्त करते हैं।" निश्चय ही देवोंनें यज्ञ किया था।" इत्यादि प्रमाणों से जैमिनी का मत भी श्रुति स्मृति और व्यास सूत्रों से विरुद्धसिद्ध

भगवान् भक्तोंके धर्मादिरूप किस प्रकार हैं यह निम्नलिखित पद्यसे ज्ञात होता हैः—

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।
ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अन्वयः—अजामिलादिदोषाणां नाशकः, अनुभवे स्थितः ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव मम गतिरस्तु ॥

अजामिल, गजेन्द्र, अहल्या आदिको अपने दोषके नाशकरने वाले भगवान् हैं ऐसा अनुभव हुआथा। अथवा अजामिलके अतिरिक्त अन्यभक्तोंके अनुभवमें आप दोषनाशकरूपसे आये थे। अजामिलका उद्धार परम्परा सम्बन्धसे अपने नामके द्वारा किया था। इसमें अपना सम्पूर्ण माहात्म्य भी दर्शाया है। इन तीन विशेषणोंसे धर्मका कार्य–पापको दूर करके इष्टकी प्राप्तिकराना वह भी भगवान् स्वयं करते हैं। इसलिये दोषके उपस्थित होनेपर भी भक्तोंको दोषनिराकरणार्थ शरणकी भावना ही करनी चाहिये प्रायश्चित्तादि करने की आवश्यकता नहीं है। अथवा परम्परा सम्बन्ध से भी आप दोष निवारक हैं। (साक्षात् सम्बन्ध होजाय तब क्या कहना है ?) अजामिल का उद्धार आपने अपने नामके साम्यसे किया। भक्तोंके अनुभवसे आप अनुभवमें आते हैं, इसी तरह लीलारूप निखिल माहात्म्य भी आप ही दर्शाते हैं; अतः श्रीकृष्ण ही मेरी गति–आश्रय–होवै ॥ ७ ॥

" सदा अध्ययनकरना चाहिये" जिस जिस यज्ञका अध्ययन करते हैं उन उन मन्त्रों का फल अध्येता को प्राप्त होता है," अग्नि, वायु और सूर्यका सायुज्य प्राप्त होता है" इत्यादि श्रुतिसे कर्म मार्गमें स्थित रह कर भी ब्रह्मयज्ञ अध्ययनके द्वारा अग्नि आदिका सायुज्य प्राप्त कर सकता है, इसी तरह " जो लोग अव्यक्त, अवर्णनीय, सर्वव्यापी अक्षर की उपासना करते हैं वे मेरे अक्षर रूपको प्राप्त होते हैं" इत्यादि वाक्य ज्ञानसे भी अक्षर ब्रह्मकी प्राप्ति बताते हैं, तब फिर श्रीकृष्णका आश्रय करनेमें क्या विशेषता है ? और यदि विशेषता न हो तो उसकी प्रार्थना भी क्यों करें ? ऐसी शङ्का करके उन उन देवताओं और अक्षरके सायुज्यके बीचमें तथा अक्षर और श्रीकृष्णके सायुज्यके बीचमें क्या न्यूनाधिक्य रहा है यह समझानेकेलिये सब स्वरूपोंका निरूपण करके भगवान् भक्तोंके अर्थरूप किस प्रकार है वह बताते हैं :—

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।
पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

---

१ यहां पूर्णानन्दशब्दके तीन अर्थोंका स्वीकार किया है। (१) पूर्ण आनन्दसे जो होता है (२) पूर्ण आनन्द जिसमें है (३) जिससे पूर्ण आनन्द होता है। प्रथम अर्थकी यह स्वारस्य है कि मर्यादा पुष्टिभक्तिको पूर्णानन्दका दान करने में आप साधन सापेक्ष है, द्वितीय अर्थसे आप पूर्ण आनन्द स्वरूप है, गणितानन्द नहीं। तीसरेका अर्थ पुष्टि भक्तोंके पूर्णनन्दका दान करनेमें आप साधन निरपेक्ष हैं।

सकला देवाः प्राकृताः वृहत् गणितानन्दकम् , पूर्णानन्दः हरिः, तस्मात् कृष्ण एव मम गतिः अस्तु ॥

सब देवोंकी उत्पत्ति सत्त्वाहङ्कारसे हुई है अतः वे सब देवगण अपनी उत्पादिका प्रकृति–त्रिगुणात्मिका माया–के अधीन है । अक्षरब्रह्म गणितानन्द है। अब "उस आनन्दका विचार यहां होता है" इस वाक्यसे प्रारम्भकरके "प्रजापति आदिके आनन्दसे शत गुणित अधिक आनन्द वह अक्षर ब्रह्मका आनन्द है" इस वाक्योक्त सम्पूर्ण प्रपाठकसे अक्षर ब्रह्मके आनन्दकी गणना की गई है। और यदि ब्रह्मादि देवोंका सायुज्य भी प्राप्त हो तो भी क्या हुआ? वहांसे भी तो जीवको संसारमें आनेका सम्भव रहता ही है इसका कारण यह है कि भगवद्गीताके नवमाध्यायका सोलहवाँ श्लोक "हे कुन्तीपुत्र ! मुझे प्राप्त होनेवाला जीव ही फिरसे इस संसारमें आता नहीं है ।" इस वाक्यके अनुसार ब्रह्मा पर्यन्त सबदेवोंके साथ सायुज्य होने पर भी वह सायुज्य नहीं माना जाता, यह सायुज्य गुणातीतके साथ न होनेके कारण और संसारमें फिर उत्पन्न होना पडता है इसलिये तथा अल्पसुख वाला होनेसे 'पुण्यक्षीण होनेसे स्वर्गसे गिरता है' इस वाक्यके अनुसार जैसे स्वर्गमें जानेका नाम मोक्ष नहीं है वैसे ही वह सायुज्य सावधिक होनेसे मोक्षरूप नहीं हो सकता । अब रही ज्ञान मार्गीय अक्षर ब्रह्मके साथ सायुज्य की बात, सो तो यद्यपि अक्षर ब्रह्ममें लय होना निर्गुण मुक्ति हो सकती है, तथापि उसमें भी परिमित ही सुख होनेके कारण अत्यन्त क्षुधार्तको अतीत स्वल्पभोजन तृप्त नहीं कर सकता उसी तरह बहुत समयसे आनन्दकी गवेषणा करनेवाले जीवात्माको गणितानन्द प्राप्त होने पर भी क्या होगा? उसको तो पूर्णानन्द प्राप्त होने पर ही तृप्ति होगी। यहां एक बात विचार करने योग्य है , वह यह कि गणितानन्दका व्याकरणकी रीतिसे क्या अर्थ है–"गणितानन्द" में "क" प्रत्यय अज्ञातार्थ और वह स्वार्थमें हुआ है। उसका तात्पर्य यह है कि अक्षर ब्रह्मका आनन्द पुरुषोत्तमके आनन्दकी अपेक्षा अस्पष्ट एवं न्यून है । इससे सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण ही निर्गुण मुक्तिके दाता तथा पूर्णानन्द होनेके कारण उनका ही आश्रय रक्षणीय है ।

"वही यह यदुकुलश्रेष्ठ और कुरुकुलश्रेष्ठ नारायण और नर भगवान् हरिके अंशरूपसे पृथ्वीका भार उतारनेकेलिये अवतीर्ण हुए हैं" "हरिके अंशरूप नर और नारायणसे पृथ्वी अतीव शोभाको प्राप्त होती है।" इत्यादि वाक्योंसे श्रीकृष्णको तो अंशरूप कहते हैं, और आप यहां बताते हैं कि वे पूर्ण हैं यह कैसे सम्भव हो सकता है ? साथ ही 'भगवान्ने जन्मलिया' इत्यादि वाक्यसे भगवानका जन्म भी सुनाजाता है, अर्थात् देवादिकके देह भी पांचभौतिक तथा उत्पत्तिशाली होनेसे भगवान्के श्रीअङ्गको भी पाञ्चभौतिक एवं जन्य

१ तैत्तिरीयोपनिषद्की आनन्दवल्लीमें आनन्दकी गणना इस प्रकारकी गई है ।

कहना चाहिये। इसी तरह यह आनन्द रूपत्वका प्रतिपादन करते हैं यहभी किस तरह माना-जाय? और सुनिये, आनन्द अन्तःकरणका धर्म होनेको कारण भगवान्को आनन्दरूप एवं आनन्द जनक किस तरह कह सकते है? इससे तात्पर्य यह निकलता है कि आपके कहनेके अनुरूप भगवान्का पूर्णत्व, आनन्दाकारत्व, आनन्दवत्त्व अथवा आनन्दजनकत्व ऊपर बताये हुये प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं हो सकता?

अब इस लम्बे चौड़े पूर्वपक्षोंका समाधान भी सुन लीजिये जो लोग उपर्युक्त प्रमाण उद्धृत करते हैं उनको उन प्रमाणोंका अर्थ ही ज्ञात नहीं है। भक्तोंकी आर्तिका नाश कर उनको आनन्दका दान करना यही भगवान्के अवतारका मुख्य प्रयोजन है। यही प्रयोजन यहां सिद्ध करना है इसीलिये भगवान् मूल स्वरूपसे अवतीर्ण हुए। पृथ्वीका भार भी दूर करना था इसलिये अपने अंशभूत नर और नारायणमी यदुकुलोत्पन्न नारायण और कुरुकुलोत्पन्न अर्जुनमें आविर्भूत है। अर्थात् यदुकुलश्रेष्ठ एवं कुरुकुलश्रेष्ठमें उन अंशोंने प्रवेश किया है, अत एव वे दोनों यदूद्वह और कुरूद्वह हुए हैं। जो मूलस्वरूप है। उसमें अंशत्वकी सम्भावना न होनेके कारण यदूद्वहत्व और कुरूद्वहत्व न था। तात्पर्य यह कि तत्तत्कार्योंको सम्पादन करनेके हेतु भगवान्को व्यूहों में तत्तदंशों की अवश्यकता रहती है, अतः नर और नारायण भी सङ्कर्षणांश होनेके कारण भूभार हरणार्थ अपेक्षितथे। भगवान् भक्तोंकी आर्तिनिवृत्ति करते हुए आनन्द-दानार्थ पूर्णरूपसे तथा भूभारहरणार्थ सङ्कर्षणके अंशरूप नरनारायण को भी अपने में प्रविष्ट-कराकर प्रकट हुए। इससे सिद्ध होता हैं कि उपर्युक्त वाक्यों में उभय अंशो को ही अवतार माना जाय। अन्यथा पूर्णका अवतार न माननेसे "कृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं" "वसुदेव के गृहमें परपुरुष भगवान् प्रकट होंगे" इत्यादि वाक्यस्तोम विरुद्ध हो जायगा। अतएव तत्त्वार्थदीपके भगवतार्थ प्रकरणमें आप आज्ञा करते हैं कि "पुष्टिकार्य करनेकेलिये नारायणसे अतिरिक्त स्वरूपसे भगवान् आविर्भूत हुए हैं" नर तो स्वयं आवेशधारक है, भूभार हरण के अतिरिक्त कार्य, पूर्ण कृष्णसे ही किया जाता है, अन्यसे नहीं। "परित्राणाय साधूनां" यह वाक्य मर्यादा भक्तोंका रक्षण करनेकेलिये अंशावतारका द्योतक है, और भक्तोंकी आर्ति निवृत्तिपूर्वक आनन्ददानकरण यह पुष्टि है। इस उन प्रकारके मार्गोंका स्थापन करनेकेलिये अवतीर्ण भगवान् भी यदि अंशरूपसे ही अवतीर्ण हों और पूर्णरूपसे न हों तो पुष्टिकार्य सिद्ध न होता। अतएव अपने दोनों अंशोसे पृथ्वीको सुशोभित की।" इस प्रकार विचार करनेसे मानना पड़ेगा कि भगवान् का अवतार श्रीकृष्णरूपसे पूर्णावतार ही है। परन्तु तत्तत्कार्योंको सम्पादन करनेकेलिये उनके भीतर उभय अंश प्रविष्ट है। तथा देहके साथ रहनेवाला पांचभौतिकत्व वा जन्यत्व आदि नियम भी प्राकृत देहकेलिये ही समझना चाहिये। अप्राकृतके विषय में तो वेदके अनुसार ही अर्थसिद्ध करना पड़ेगा। अर्थात् भगवान् श्री कृष्णका श्रीअङ्ग अप्राकृत होनेसे "आनन्दमात्र करपादमुखोदरादिः" इत्यादि श्रुत्युक्त आनन्द मात्र ही

जानना उचित होगा। अन्यथा प्राकृत और अप्राकृत पदार्थोंका नियम समान होजानेसे अस्मदादिके ज्ञान इच्छा आदिके समान ही भगवानके ज्ञान इच्छा आदिको भी—अनित्यत्व प्राप्त होगा।

" भगवान् का कर्तृत्व तो, ज्ञान इच्छा आदिसे भी उपपन्न हो सकता है, उसी तरह देहका आनन्दमयत्व तथा नित्यत्व प्रत्यक्षसे भी बाधित है, तो फिर आनन्दमय तथा नित्य देहका स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है ? यदि इस प्रकार शङ्का की जाय तो वह भी अनुपपन्न होगी। क्योंकि "जहां जहां कर्तृत्व रहता है वहां वहां देहवत्ता भी रहती है। जैसे घटके प्रति कुम्हारका कर्तृत्व कहने से वह कुम्भकारभी देहधारी है ऐसा ज्ञान अवश्य ही होता है। इसी तरह "जहां जहां देहवत्ता नहीं है वहां वहां कर्तृत्व भी नहीं है" ऐसा भी नियम ही है। जैसे मोक्षको प्राप्त किये हुए जीवात्मामें देहवत्ता न होनेसे उसमें कर्तृत्व भी नहीं है। इस अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तिके बलसे कर्तृत्वका निर्वाह करनेके लिये ही जैसे नित्यज्ञानका स्वीकार करते हैं वैसे ही आनन्दमय एवं नित्यदेहका भी स्वीकार करना पडेगा। साथ ही प्रभुका जन्म भी शास्त्रोंमें सुनाजाता है। अतः प्रभुके देहका जन्म न माननेका कोई कारण नहीं है, क्योंकि नित्य और सर्वत्र व्याप्त ऐसे अपरिच्छिन्नवपुका परिच्छिन्नरूपसे प्रगट करना यही जन्म कहा जाता है। "आनन्दसे ही यह सब भूतमात्र उत्पन्न होते हैं" "ब्रह्म नित्यस्वरूप, विज्ञानस्वरूप तथा आनन्दरूप है" "वह सैंधवके टुकडेके समान भीतर बहार समग्र ही रसघन है, ऐसा निश्चय वह आत्मा भीतर और बहार समग्र ही प्रज्ञानघन है" "ब्रह्म का आकार आनन्द है" "वह आनन्दमय है, क्योंकि श्रुतिमें आनन्दमयस्वरूपकी बार बार उक्ति है" "श्रुति ब्रह्मको आनन्दमात्र कहती है" "आप केवल आनन्दानुभव स्वरूप हैं" "भगवान् के श्रीहस्त, चरणारविन्द, श्रीमुख, आदि अवयव आनन्द मात्र हैं" "गुण और लीलाके अनुसार आपके पुत्रके अनेक नाम तथा रूप हैं" "तीनों वेद, सब उपनिषदें, सांख्य, योग तथा इन्द्रादि भक्त 'परब्रह्म' 'भगवान्' कहकर जिसके माहात्म्यका गान कर रहे हैं, उसको श्री यशोदाजीने अपना आत्मज (पुत्र) माना है" "जिसका भीतर या बहार, पूर्व या पर नहीं है; और जो स्वयं जगत्का पूर्व तथा पर एवं भीतर और बाहर है, वह जगद्रूप है" इत्यादि वेद, व्याससूत्र तथा पुराणोंमें अनेक वाक्य उपलब्ध होते हैं। इसी तरह प्रमाण प्रकरणीय बाललीलाओंसे ज्ञात होता है, कि भगवान् श्रीकृष्ण अंशावतार नहीं पर पूर्णावतार ही है। वैसे ही अस्मदादिक की तरह 'आनन्द' यह कुछ केवल आत्मा [illegible] गुण होकर ही भगवान् में स्थित नहीं है, किन्तु प्रभुका श्रीअङ्ग, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण यह सब आनन्दरूप है। साथ ही ज्ञानस्वरूप है। और "ब्रह्म त्रिकालाबाधित तथा विज्ञान स्वरूप है" "ब्रह्माके आयुष्य की समाप्ति होनेपर महाप्रलय उपस्थित होता है जब चौदहलोकके महाभूतों में लीन हो जानेपर, महाभूत अपने कारणभूत अहङ्कार में लीन हो जाता है, और अहङ्कार अपने कारणभूत महत्तत्त्वमें लीन होता है, महत्तत्त्व अपने कारण भूत प्रकृ-

तिमें लीन होता है, अन्तमें प्रभु ही एकाकी शेष संज्ञा से स्थित होते हैं, इत्यादि वाक्यों से आपका "नित्यत्व" "यह प्रभु ही सबको आनन्द प्राप्त कराता है," इसश्रुति से "आनन्द जनकता है" "इसतरह श्रीकृष्णचन्द्रने गोपालों के साथ आनन्द से आप्लावित होकर वृंदावनके समीप श्रीगोवर्धन एवं श्री यमुनाजी के तट पर पशुओंको चराते हुए रमण किया," "हे राजन्! श्री वृंदावन, श्रीगिरिराज और यमुनाजी के तटको देखकर श्रीकृष्ण और श्रीदाऊजी को अतीव आनन्द हुआ।" हे गोपीजन! पुष्पों की माला से विरचित कर्णभूषण से जिसके श्रीमुख की शोभा अपूर्व हो रही है ऐसा श्रीकृष्ण आनन्द में आकर जगत्को आनन्द मग्न बनाते हुए बलदाऊके साथ पर्वतके शिखरोंपर ठाडे रहकर बन्सी बजाते हैं तब नाद श्रवण करने वाले सारे संसारको तदाकार बनादेते हैं।" "हे सखि! यदुपति श्रीकृष्ण व्रजकी गायोंके दुरन्त तापको दूर करते हुए, सायंकाल होनेके कारण प्रसन्न वदनसे गजराज की चाल चलते हुए, दिवसके अन्तमें जगत्के ताप कोशांत करनेवाले चन्द्रके समान अपने पास पधारते हैं" इत्यादि वाक्योंसे आनन्दवत्व भी उपपन्न होता है, तथापि आनन्दत्वका और देहत्वका विरोध तो वैसाही रहा, अपने अपने अधिकरण—आनन्द या देह—इस दोनोंमेंसे किसी भी एकमें प्रमाणोंसे अगर आनन्दत्व या देहत्व की—सिद्धि हो सकती हो तो विरोध कहां रहा? तथापि आनन्दको धर्मी रूप मानकर उसका धर्मत्व किस प्रकार रह सकेगा ऐसा भी नहीं कह सकते। कारण कि वह जैसे सैन्धवके टुकडेके समान भीतर और बहार समग्र रसघन है वैसे ही अरे यह आत्मा समग्र प्रज्ञानघन है। जो सर्वज्ञ है," इन श्रुतियोंमें भगवान्को ज्ञानरूप और ज्ञानके आधाररूप भी कहे हैं। वैसे ही आनन्द को ही धर्म और धर्मीस्वरूप मानने में किसी प्रकारका विरोध नहीं है। यह सब विस्तार पूर्वक हमारे श्रीप्रभुचरणोंने विद्वन्मण्डनमें प्रतिपादन किया है, अतः यहां विस्तार करने की आवश्यकता नहीं है॥ ८॥

विवेक और धैर्य को रक्षा करते रहने पर भी भगवान् भक्तके वशीभूत होते हैं, तो फिर दीनता पूर्वक आश्रय की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार शङ्का करके भगवान् सर्व मनोरथ पूरक हैं, अतः सर्वविध फलकेलिये कामना की पूर्तिरूप प्रभुके आश्रय की प्रार्थना है—

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः।
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम॥ ९॥

अन्वयः—विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य, विशेषतः पापासक्तस्य, दीनस्य मम गतिः कृष्ण एव अस्तु।

पहिले प्रभुके स्वरूपका विचारकर आश्रयका उपदेश किया, अब जीवके स्वरूपका विचार कर आश्रयःका उपदेश करते हैं। "भगवान् अपनी इच्छा से सब कार्य करते है, अतः प्रार्थना न करनी चाहिये" ऐसा निश्चय होना "विवेक" है, सेवामें प्रतिबन्ध करनेवाले

दुःखोंकी निवृत्तिका उपाय न करके आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक तीनों प्रकारके दुःखोंको सहन करना "धैर्य है" है और फलरूपा एवं साधनरूपा भक्ति 'आदि' शब्दसे पुण्य इन सबसे रहित, किंबहुना इनके साधनोंसे भी रहित—अथवा यदि साधन होंगे तो भी अल्प प्रमाणमें, फल उत्पन्न कर सकें वैसे नहीं, और मैं दीन हूं अर्थात् किसी प्रकारके साधनोंके सिद्ध करने में भी असमर्थ हूं। साथ ही पाप में आसक्त हूं—भूलसे नहीं, पर जानकर पाप करने वाला होनेके कारण फल मिलता हो वह भी न मिले—ऐसी परिस्थिति में जीवका रक्षक कौन हो सकता है? श्रीकृष्ण ही है। क्योंकि अन्य मार्गोंमें यदि थोडा भी उलटा सीधा कर्म होजानेसे कर्मका फल नष्ट होजाता है और देवता भी नाराज होती है, तब साधकका अनिष्ट होता है, अथवा अल्पफल प्राप्त होता है, परन्तु यहां तो श्रीकृष्ण दयालु हैं, अतःवे मेरे समान अधमको भी सम्पूर्णफलदान करते हैं, अथवा विवेकादि सिखाकर योग्य बना कर फलदान करते हैं, अतःमुझे तो श्रीकृष्णका ही आश्रय करना चाहिये।

यहां "श्रीकृष्ण मेरा आश्रय हो" ऐसा कहनेवाले श्रीमदाचार्यचरण हैं और वे अपने को विवेकादिसे रहित आदि विशेषण लगाते हैं, यह अयुक्त है, अतः उन विशेषणों की क्या संगति है, यह विचारना चाहिये। सुनिये, इस ग्रन्थको आचार्यचरणोंने जीवोंकेलिये रचा है, अतः जैसे वेदमें यजमान की ओरसे भगवान् आज्ञा करते हैं कि हाथ जोडकर मैं शरण आया हूं इत्यादि उसी तरह आचार्य चरण भी यहां जीवोंकेलिये जीवोंकी ओरसे इस प्रकार कहते हैं। अतः उपर्युक्त विशेषणों की सङ्गति जीवके प्रति ही होनी चाहिये ॥ ९ ॥

सबप्रकारसे निःसाधन जीवको शरण जानेके पश्चात् फलसिद्धि किस प्रकार होगी? क्योंकि भगवान् तो जीवको उसकी कृतिके अनुसार फलप्रदान करते हैं। साथ ही यह भी सम्भव है कि जो लोग एकमात्र भगवान् ही का आश्रय करते हैं, उनसे प्रमादवश अन्यदेवोंका अपमान भी हो सकता है, और वैसा होनेसे अपमानित देवता फल सिद्धिमें बाधा भी उपस्थित कर सकते हैं। क्योंकि श्रेयके मार्गमें अनेक विघ्नोंका होना प्राकृतिक नियम ही है। इस प्रकार शङ्का कर मोक्षके मार्गमें भगवान्के निजस्वरूपका लाभ होनेकेकारण निजस्वरूपका मोक्षरूपत्व आज्ञा करते हुए तथा जीवोकी ओर से आश्रयकी प्रार्थना करते हुए उपर्युक्त शङ्काका समाधान करते हैं:—

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत्।
शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

अन्वयः—सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्र एव अखिलार्थकृत्, अहं शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयामि।

सर्वसामर्थ्यशब्दका अर्थ सम्पूर्ण सामर्थ्य, सबका सामर्थ्य, सबके ऊपर जिसका सामर्थ्य है, इत्यादि है। अर्थात् भगवान् अपनी इच्छाके अनुसार सब कुछ करते हैं। यदि मर्यादा की रक्षाकरनी हो तो आप स्वयं भगवान् होनेके कारण आपमें ज्ञान, ऐश्वर्य आदि धर्म तो सिद्ध ही हैं, अतः उसका दान कर जीवको फलप्रदान करते हैं। कभी कभी अक्षर ब्रह्ममें स्थित जीवको भी अपनेमें ले लेते हैं। क्योंकि सर्वत्र उनका ही सामर्थ्य है। "हे अर्जुन जो वस्तुएं विभूतिवाली होती है, शोभायुक्त होती है, बलिष्ठ होती है, वह सब मेरे तेजके अंशसे उत्पन्न हुई है ऐसा जान।" "मैं समग्र जगत्का उपादान कारण हूं। मैं ही सबका प्रवर्तक हूं।" इत्यादि वाक्यानुसार जिसमें समग्र सामर्थ्य विद्यमान है, ऐसे सुदर्शनादि आयुध भी आपके पास विद्यमान हैं। उनसे भी आप भक्तके अनिष्ट का निवारण करत हैं। "जिसने विष्णुकी उपासना की है ऐसे भक्तों की, कदापि निष्फल न होनेवाले सुदर्शनादि आयुधोंसे सकल आपत्तियोंमें से, रक्षा करते हैं।" इस वाक्यसे भी ज्ञात होता है कि भक्तोंकी रक्षा भगवान् अपने आयुधोंसे करते हैं।

सामर्थ्य होने पर भी कदाचित् आश्रित की रक्षा न करें, अथवा मर्यादामार्गसे ही फलदान करें, ऐसी स्थितिमें आश्रयकी क्या आवश्यकता है?

सब देशोंमें, वर्णोंमें, आश्रमोंमें किंवा कर्मादिमार्गमें निखिल अर्थकी पूर्ति करना ऐसा आपका स्वभाव है। "एक वार भी शरण आकर 'मैं आपका हूं' ऐसा कहनेवालेको अभयका दान करना यह मेरा व्रत है। फिर शरणमें आनेवाला चाहे जो हो।" "जो भक्त स्त्री, घर, पुत्र, मित्र, प्राण, धन, इसलोक और परलोक की पर्वाह न करके मेरे शरणमें आये हैं, उनका त्याग किस प्रकार कर सकता हूं?" इत्यादि वाक्योंसे एक वार भी यदि शरणमें आनेवाले की आप रक्षा करते हैं, तो फिर शरणमें आकर भक्ति करनेवाले भक्तकी आप रक्षा करें इसमें कहना ही क्याहै? मर्यादामार्गसे फलदान करनेमें भी अन्यकी अपेक्षाके विना ही—अनन्य होकर—भजन करनेवालेको भगवान् मर्यादाकी अपेक्षाके विना ही फलदान करते हैं। जब कि 'वेदमें कहा है इसलिये भजन करना चाहिये' इसप्रकार वेद मर्यादाकी रक्षा करनेकेलिये भजन करनेवालेको प्रभु मर्यादाके अनुसार फलदान करते हैं। जो मुझे जिसप्रकार भजते हैं उनको मैं भी उसी प्रकार भजता हूं। भगवद्गीताके इस वाक्यमें आपने अपनी मर्यादाका उपदेश किया है। अतएव किसी प्रकारकी क्षति नहीं है। "लोकमें मैं भक्तोंके अधीन हूं ऐसा बतानेकेलिए बाललीलाओंके द्वारा व्रजके आनन्दको बढाया" "उसके पश्चात् श्रीकृष्णने बलभद्रके सहित समान वयस्के व्रजवासियोंके साथ व्रजवनिताओंको आनन्द देनेवाली क्रीडाएं की" "श्रीकृष्णके दर्शनसे उत्पन्न हुए परमानन्दसे जिसके हृदयका ताप मिट गया है ऐसे गोपीजन मनोरथोंके अन्तको प्राप्त कर सके। अर्थात् उनको किसी प्रकारकी कामना न रही।" सबको मोक्षका दान देनेवाले मुकुन्द भगवान् मुक्तिप्रदान करते है, पर भक्ति नहीं।" इत्यादि

वाक्योंसे मृत्यु और यम भी भगवान्‌का आश्रय रखनेवालेके पास नहीं जा सकते तो अन्यकी क्या बात ? अर्थात् अनन्य आश्रय रखनेवालेके ऊपर सब प्रकारके सामर्थ्यसे युक्त भगवान् विराजमान होनेसे उसका कोई कुछ बिगाड नहीं सकता है। तथापि इतना तो विवेक अवश्य अनुसन्धेय है कि सर्वस्वनिवेदनपूर्वक शरण गमन करनेवालेका उद्धार आप अनायास ही करते हैं ॥ १० ॥

"जीवमात्रके दशप्राण और ग्यारहवां आत्मा रहता है," इस श्रुतिवाक्यसे जिस तरह दश प्राणोंसे सब सिद्ध होता हैं, उसी तरह यह कृष्णाश्रय स्तोत्र ही भगवदीयोंका सब कार्य सिद्ध कर देता है। यह ज्ञान करानेके लिये श्रीमहाप्रभुजीने दशश्लोकोंसे कृष्णाश्रय स्तोत्रकी रचनाकी। जैसे आत्मा क्षयरहित है वैसे ही इस स्तोत्रके पाठ करनेसे अक्षय फल प्राप्त होता है, यह बतानेकेलिए आत्मारूप ग्यारहवे श्लोकमें कृष्णाश्रयस्तोत्रके पाठका फल निरूपण करते हैं:—

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ।
तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

अन्वयः—यः इदं कृष्णाश्रयं स्तोत्रं कृष्णसन्निधौ पठेत्, तस्य आश्रयः कृष्णः भवेत् इति श्रीवल्लभः अब्रवीत्।

सब पदार्थोंमेंसे निष्ठाका त्याग करके जिससे कृष्णकी सेवा हो सके अथवा जिससे कृष्णका आश्रय सिद्ध हो, या जिससे कृष्ण आश्रय बने वह कृष्णाश्रय है। यही कृष्णाश्रय है। कारण कि कृष्णाश्रय शब्दका यथार्थ अर्थ इसीमें समाविष्ट है। अतः इस कृष्णाश्रयका पाठ श्रीकृष्णके समीप होनेसे ही कृष्णका आश्रय सिद्ध होता है अन्यथा नहीं। पाठमात्रसे कृष्णका आश्रय कैसे सिद्ध होगा ऐसी शङ्का भी न करनी चाहिये। कारण कि यह बात कहने वाला श्रीवल्लभ है। यहां आचार्यजी अपना नाम निर्देश करके बताते हैं, कि मैं भगवत्स्वरूपका ज्ञाता हूं, अतः मेरा वाक्य सत्य है इसमें अप्रामाण्यशङ्का न करनी चाहिये। आचार्यजीको सर्वोद्धारकेलिये भूतलपर अवतार लेना पडा है, जिसको सर्वोद्धारकेलिये अवतार लेनेकी भगवान्‌की आज्ञा है, वही भगवान्‌के यथार्थ स्वरूपको पहचान सकता है। अतः उनके वचनोंपर विश्वास रखना चाहिये। इसीसे भगवत्कृपा होकर सब सिद्ध होगा ॥ ११ ॥

श्रीमद्विठ्ठलनाथपादकमले संवन्द्य भक्त्या मुदा
कृष्णैकाश्रयियोऽथ तातचरणान् तादृक् पितृव्यानपि।
श्रीकृष्णाश्रयसंज्ञके स्तुतिकरे कल्याणरायाभिधः
श्रीगोविन्दसुतः प्रकाशमकरोद्भूयान्मुदे सद्धियाम्।

इति श्रीविट्ठलनाथ चरणैकतान श्रीकल्याणराय विरचित कृष्णाश्रयस्तोत्रप्रकाशः सम्पूर्णः।

થોડા વખતમાં છપાઈ બહાર પડનારાં પુસ્તકો.

નિત્યલીલાસ્થ શ્રીસુદામાપુરીયવાદીભપઞ્ચાનનગોસ્વામીશ્રીજીવનેશાચાર્ય સઙ્ગૃહીત-

વૈષ્ણવદ્વિજાહ્નિક. (મોટું, ગુજરાતી.)

અર્થાત્ ઉપનયન સંસ્કાર પામેલા બ્રાહ્મણ, ક્ષત્રિય અને વૈશ્યોનું નિત્ય કર્તવ્ય કર્મ.

દરેકને સહેલુ પડે તે ખાતર આ આહ્નિકમાં સન્ધ્યાદિ નિત્ય કર્મ કરવાની સંપૂર્ણ સમજણ ગુજરાતી ભાષામાં આપવાની સાથે મન્ત્રો પણ ગુજરાતી હરફમાં છાપવામાં આવ્યા છે. વૈષ્ણવદ્વિજોને-બ્રાહ્મણ, ક્ષત્રિય, વૈશ્યોને-વૈષ્ણવી પદ્ધત્યનુસાર સન્ધ્યાદિનિત્યકર્માનુષ્ઠાન સમજાવનારું માત્ર આ એક જ આહ્નિક છે. 'ગુજરાતી ન્યુસ' પ્રેસની સફાઇદાર છપાઇ તો મુલક મશહૂર છે એટલે તે બાબત કશું વકતવ્ય હોય જ નહિ. **પખવાડીયામાં છપાઇને બહાર પડશે.**

वैष्णव–द्विजाह्निक. (हिन्दी.)

हिन्दी भाषाभाषी सज्जनोंकी खास सुविधाके लिए ऊपर बतलाये गये आह्निकका ही यह ठीक–ज्योंका त्यों हिन्दीमें अनुवाद है. एक सप्ताहमें छपकर तैयार हो जायगा.

वैष्णव संक्षिप्ताह्निक.

આ આહ્નિકમાં દન્તધાવન વિધિ, તિલકવિધિ, મુદ્રાવિધિ, ભગવત્સેવા, જપવિધિ, નિત્ય પાઠ કરવાનો ક્રમ, અન્યાશ્રય વગેરે અનેક ખાસ બાબતો ઉપર સંક્ષેપમાં સારો પ્રકાશ પાડવામાં આવ્યો છે. 'વૈષ્ણવોએ ટુંકામાં ટુંકુ કેટલું નિત્યકર્મ કરવું આવશ્યક છે' તે સમજવા આ આહ્નિક અવશ્ય ખરીદવું જોઇએ.

उपदेशमीमांसा.

તમારે તમારા શુદ્ધ સનાતન પુષ્ટિમાર્ગ ઉપર 'મુખમસ્તીતિ વક્તવ્યમ્'ના ન્યાયે શઙ્કા-કરનારા આજકાલના વિતણ્ડાવાદીઓને શાસ્ત્રોનાં પ્રમાણો સાથે મુખતોડ જવાબ આપવો છે? તો 'મીમાંસા'ના સત્વર ગ્રાહક, બનો. તેમાં શું છે? 'ગાયત્રી મન્ત્રનો ઉપદેશ લીધા પછી બીજો ઉપદેશ લેવાય કે નહિ?' 'અન્ય દેવના મન્ત્રો છોડીને શ્રીકૃષ્ણના મન્ત્રોનો ઉપદેશ લેવામાં વિશેષતા શી? 'મન્ત્રોપદેશ કોઇ પણ ઉત્તમ બ્રાહ્મણ પાસેથી ન લેતાં શુદ્ધાદ્વૈત વૈષ્ણવ વેલ્લનાટીય બ્રાહ્મણ શ્રીવલ્લભકુલના આચાર્યો પાસેથી જ લેવાનું કારણ શું?' 'બ્રહ્મસમ્બન્ધ જ લેવાનું તાત્પર્ય શું? દોષોની નિવૃત્તિ તો પ્રાયશ્ચિતાદિકથી પણ શકય છે તો પછી બ્રહ્મસમ્બન્ધ જ લેવામાં વિશેષતા શી? 'બ્રહ્મસમ્બન્ધમન્ત્રોપદેશ લીધા પછી થતા દોષોની નિવૃત્તિ શી રીતે કરવી?' સ્ત્રીને તો પતિ જ ગુરૂ છે તો પછી મન્ત્રોપદેશ લઇ બીજો ગુરૂ કરવાની આવશ્યકતા શી?' 'પતિ તથા સ્ત્રી એક ગુરૂ પાસેથી મન્ત્રોપદેશ લઇ શકે કે કેમ?' નાનાં બાળકોને મન્ત્રોપદેશ આપવાથી શું ફળ?' 'ચોરાશી તથા બસ્સોબાવન વૈષ્ણવોની વાર્તામાં તમામને શ્રી ઠાકોરજી-સાનુભાવ હતા તે આજના સમયમાં કેમ નથી?' આવા અનેક જટિલ પ્રશ્નોના જવાબ સચોટ રીતે તથા યુક્તિપૂર્વક આ ગ્રન્થમાં આપવામાં આવ્યા છે. દરેક વૈષ્ણવે આ પુસ્તક અવશ્ય વાંચવું જોઇએ. પંદર દિવસમાં બહાર પડશે.

મળવાનું ઠેકાણું:—

બુકસેલર, ગિરિધરલાલ, જ. શાહ,

C/o શ્રી જીવનેશાચાર્યપુષ્ટિસિદ્ધાન્ત પુસ્તક ભંડાર, લાલબાવામન્દિર, મુંબઈ નં. ૨.

નોટ-ઉપલા એડ્રેસને તમારી બુકમાં નોંધી લો; કારણ કે વૈષ્ણવ સંપ્રદાયનાં તમામ જાતનાં પુસ્તકો તથા ચિત્રોને અચૂક રીતે તથા ટાઇમસર સપ્લાઇ કરનાર આ એકજ ઠેકાણું છે.

श्रीकृष्णाय नमः।

किञ्चित्प्रास्ताविकम् ।

कृष्णाष्टम्यां कृष्णाश्रयस्तोत्रं पद्विवरणसमेतं प्रकाशयितुं तत्प्रणेतृनिःसीमानुग्रहेण पारयामीति महत्सौभाग्यं मे । अतीयाय किल सार्थोऽब्दो मुद्रणयन्त्रमारोपितस्यास्य, किन्तु गोस्वामिश्रीरणछोडलालजीमहाराजैः साकं श्रीपुरुषोत्तमक्षेत्र-काशीक्षेत्र-चरणाद्रिडेलप्रभृतिष्वनेकस्थलेषु यात्रानिमित्तं गतं मयेति, तेषां कुमारश्रीवल्लभलालजीमहोदयानां वाराणसीयप्रथमापरीक्षादित्साऽपि तदन्तर एव जातेति तत्राप्युत्सुकं, भूयोऽपि वाराणसीं प्रति प्रस्थितं तैः सह परीक्षादापनार्थम्, अन्यैश्चाप्येवंविधैर्हेतुभिरेकत्र स्थितिमलभमानेन प्रकटयितुमेतत्स्तोत्रमतिक्रान्ता वेला मया । ततश्च बहुभिर्वारंवारं पर्यनुयोजि हितैषिभिः किमेतत् कुत एतत् कथमेतदित्यादि । किं पुनः प्रतिपद्यतां प्रतिवचनं, यत्रैकस्या व्यक्तेरधीनं कार्यबाहुल्यमथ च स्थितेरनैयत्यं तत्र भवत्येवैवंविधो विलम्बः । अस्तु ।

ग्रन्थोऽयं श्रीमदाचार्यचरणप्रणीतषोडशप्रकरणग्रन्थेषु नवमीं सङ्ख्यामावहति । विषयश्चास्य नात्रैव स्पष्टो यत् कृष्णाश्रयणमन्तरा स्वभावदुष्टजीवानां निस्तारो नास्त्येव कलौ । 'मामेव ये प्रपद्यन्ते' 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' 'अपि चेत्सुदुराचारः' 'मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' इत्यादिवाक्यपरसहस्रैरिदमेव दृढीक्रियते । 'कलिदावानलेनाद्य साधनं भस्मतां गत'मित्याद्युक्तिभिः प्रमाणबलं प्रमेयबलमन्तराऽकिञ्चित्करमेवेत्यपि निर्विवादम्, अत एव 'कृष्णश्चेत्सेव्यते भक्त्या कलिस्तस्य फलाय ही'ति दैवोद्धारार्थगृहीतावतारैर्निबन्ध आहतम् । यद्यपि भक्त्यादिमार्गा जनोद्धारार्थं निबन्धादौ सपरिकरं निरूपितास्तथापि प्रत्यहं कलेराधिक्येन तेषां दुःसाध्यत्वमाकलय्य आश्रयस्यैव च सर्वहितावहत्वं पर्यालोच्य स्तोत्रमिदं व्यरीरचन्नाचार्याः । आश्रयभवने तु महदनुग्रहस्यैव हेतुता नान्यस्य । अनयैव दृशा प्रणीतोऽयं ग्रन्थ इति प्रबन्धस्यास्यावलोकनेनावज्ञातं भविष्यति श्रीमदाचार्यपादाम्भोरुहमकरन्दलिहो दैवसर्गस्येत्यलं पल्लवितेन ।

ग्रन्थस्यास्य परिष्करणे पुस्तकप्रदानेन प्रशंसनीयमुपकारमाचरितवतां मे दीक्षागुरूणां गोस्वामिश्रीमदनिरुद्धलालजीमहाराजानां काम्यवनस्थगोस्वामिश्रीवल्लभलालजीमहाराजानां सुगृहीतं नामधेयं प्रत्यहं स्मरामि । तृतीयपीठाधीश्वरश्रीव्रजभूषणजीनामध्यापकाः पं. कण्ठमणिशर्माणः, पुरुषोत्तमलालजिमन्दिरस्थदामोदरशास्त्रिणः, सद्गतभगवदीयाः 'मूलचन्द्र तुलसीदास तेलीवाला' एतेषामपि सर्वेषां पुस्तकप्रदानतो मदुपरि महदुपकृतिः । गोस्वामिश्रीरणछोडलालजीमहाराजा अपि सांप्रदायिक-

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

मेरे चार शब्द

पुष्टिमार्गीय हिन्दी भाषाभाषी वैष्णवों की सङ्ख्या गुर्जरभाषाभाषियों की अपेक्षा कम नहीं है, तथापि हिन्दी भाषायें साम्प्रदायिक ग्रन्थोंको अभाव पूर्ववत् विद्यमान ही है। इस महती त्रुटिको दूर करनेके अभिप्राय से "वैष्णव वैभव" मासिक पत्रका आविर्भाव हुआथा। दुर्भाग्यसे वह आज तिरोहित दशाका अनुभव कर रहा है। इसके अनन्तर साम्प्रदायिक मौलिक ग्रन्थोंका अनुवाद करना प्रारम्भ किया, आज इन पङ्क्तियोंका लेखक हिन्दी भाषामें साम्प्रदायिक ग्रन्थोंका अनुवाद कर रहा है, इस समय १०० फार्मसे अधिक होसके इतना साहित्य मौजूद है। षोडशग्रन्थों में "विवेक धैर्याश्रय" का अनुवाद गो० श्रीव्रजरत्न लालजी महाराज की सहायता से छप चुका है। "बालबोध" का अनुवाद भी आपही छपायेंगे ऐसी आशा है। यह "कृष्णाश्रय स्तोत्र" का अनुवाद गो० श्रीरणछोड़लालजी महाराजकी कृपासे छपा है। ब्रह्मवाद सङ्ग्रह चौखम्बासिरिज के अध्यक्ष सेठ जयकृष्णदासजीने छपवाया है। यदि हिन्दी भाषाभाषी वैष्णव जनता इन ग्रन्थोंका उचित आदर करेगी तो शुद्धाद्वैत मार्तण्ड, प्रमेयरत्नार्णव, प्रस्थानरत्नाकर, निबन्ध और काशीस्थ गो० श्रीगिरिधरजी महाराजकृत विवरणके अनुसार अणुभाष्यका अनुवाद आदि ग्रन्थ शीघ्रही छपसकेंगे।

यह कृष्णाश्रय ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुजीके समयकी देशकालकी परिस्थितिका भलीप्रकार परिचय कराता है, जिस समय देश म्लेच्छाक्रान्त हो चुकाथा, उस समय पुष्टिमार्गका प्रचार हुआ है। ऐसे भयङ्कर समयमें धर्मका प्रचार करना कितना कठिनथा यह विचारशील पाठकों से छिपी हुई बात नहीं है। आज पुष्टिमार्गपर जो लोग आक्षेप करते हैं, उनको इस परम पुनीत सम्प्रदाय का साहित्य देखना चाहिये। भाविक वैष्णवोंसे प्रार्थना है कि आप यदि अपने बालकों को अन्य धर्मोंसे पराभूत देखना नहीं चाहते हैं, तो आप साम्प्रदायिक ग्रन्थोंका सरल हिन्दी भाषामें अनुवाद कराके छपवाईये, और हिन्दी में छपने वाले ग्रन्थों को सहायता प्रदान कीजिये।

३ रा भोईवाडा, भुलेश्वर,
बम्बई, रथयात्रा १९८५

भवदीय
हरिशङ्कर शास्त्री
वेदान्त विशारद

शीघ्र ही छपकर प्रकाशित होनेवाली पुस्तकें

नित्यलीलास्थ गोस्वामीजीवनेशाचार्यजी महाराज (पोरबन्दर) सङ्गृहीत

वैष्णव द्विजाह्निक

अर्थात् उपनीत ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंका नित्यकर्म

इस आह्निकमें सन्ध्यादि नित्यकर्म करनेका पूरा परिचय कराया गया है। साथ ही वर्णविभागके अनुसार पद्धति भी समजानेवाला यह एक मात्र ग्रन्थ वैष्णवोंके लिये उपयोगी है।

उपदेश मीमांसा

यदि आप शुद्धपुष्टि मार्गीय शरण मन्त्र और ब्रह्मसम्बन्धका रहस्य जानना चाहते है, विधर्मी वितण्डवादियोंका मुखमर्दन करना चाहते हैं। गायत्री मन्त्रका उपदेश होनेके पश्चात् अन्य मन्त्रों का उपदेश हो सकता है या नहीं? अन्य देवोंकी उपासना छोड-कर श्रीकृष्ण ही की उपासना क्यों करनी चाहिये इत्यादि प्रश्नोंका सरल हिन्दी भाषामें उत्तर जानना चाहते हैं तो इस ग्रन्थको अवश्य पढिये।

श्रीमद्गोपाल पूर्वतापिन्युपनिषद्

सम्प्रति विराजमान गोस्वामिबालकोंमें सर्वप्रथमग्रन्थकार विद्वद्रत्न गोस्वामी श्रीमदनिरुद्धाचार्यजी महाराजने इस ग्रन्थपर **ब्रह्मामृत भाष्य** और **पीयूषलहरी टीकाकी** रचना की है। इसका हिन्दीअनुवाद भी किया गया है। इस ग्रन्थमें श्रीकृष्ण ही परात्पर पुरुषोत्तम हैं, शिवब्रह्मादि देवता भी उनकी उपासना करते हैं, कर्म ज्ञानकी अपेक्षा भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है इत्यादि विषयोंपर पूर्ण *प्रकाश डालागया है। ग्रन्थ उच्चकोटिका है।*

साहित्योद्धृतिविषये स्वपितृपादाननुकुर्वन्तीति प्रत्यक्षमेव सर्वेषाम् । एतेषां समाश्रयेणानेके साम्प्रदायिकाः प्रबन्धा बहिरवतेरुः । षोडशग्रन्थानां सेवाफलादि ग्रन्थाष्टकं नवमं कृष्णाश्रयस्तोत्रं चैतेषामेव प्रबन्धबलेन लब्धावतारं श्रीमदाचार्यवाक्सुधापिपासूनां मनोरथपूरकं भवतीति महान् प्रमोदावसरः । अपि चैतादृक्सत्प्रवृत्तौ योग्यविवित्सया परमकरुणया दशवर्षाणि मे सर्वविधसाहाय्यं दत्तवद्भ्यो गोस्वामिश्रीगोकुलनाथजि-देशिकवरेभ्यः साञ्जलि कार्तज्ञ्यमावेदयामि ।

अस्मिन् संशोधने दृष्टिदोषतो मुद्राक्षरयोजकप्रमादतो वा जातानि स्खलितानि संशोध्य तास्ता अशुद्धीर्बोधयित्वानुगृह्णन्तु दयालवो विद्वांसो मामिति प्रार्थयति—

कृष्णाष्टमी संवत् १९८३

विद्वज्जनकृपाभिलाषि—
हरिकृष्णः शास्त्री,
'शुद्धाद्वैतविशारदः'।



श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमद्रघुनाथचरणविरचितविवरणविभूषितम् ।

य आविरासीद्धोरेऽस्मिन् कलौ श्रीवल्लभाभिधः ।
निजदास्यं स नो देयादन्याश्रयादपि दुराश्रयात् ॥ १ ॥

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।
पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

सर्वमार्गेष्विति । सर्वे कर्मज्ञानोपासनादयस्ते मृग्यन्ते तत्तत्फलार्थिभिरिति मार्गा इष्टप्राप्त्युपायास्तेषु सर्वेषु नष्टेषु तिरोहितेषु सत्सु । अनेन जीवानां सर्वथैवागतिकत्वं सूचितम् । एवंविधेऽप्यशक्येऽर्थे मम सर्वस्वनिवेदिनो दासस्य कृष्ण एव गतिः शरणं, प्राप्तव्योर्थ आश्रयणं च । अत्रास्त्विवतिपदं व्याख्यानेऽध्याहार्यम् । एवकारेणान्यनिषेधः सूचितः । किं च, कालकृतोपद्रवेणाप्यगतिकत्वं कलौ चेत्यनेनाहुः कलावीति । बहिर्धर्मरूपाभासोन्तर्दोषग्रस्तो धर्मः खलो भवति, तादृशो धर्मो यस्मिन्कलौ । खलानां दांभिकहैतुकपाषण्डिनामेव धर्मो यस्मिन्निति वा, क्वचित् 'खरधर्मिणी'त्यपि पाठः श्रूयते, तत्रापि खरो रौद्रो धर्मो यस्येति, अत्रैवं व्युत्पत्तिःखरश्चासौ धर्मश्चेतिकर्मधारये कृते पश्चान्मत्वर्थीय 'इनि'प्रत्ययः, नो चेद्बहुव्रीहौ 'क'प्रत्ययः प्रसज्येत । चकारात्कर्मज्ञानाद्यतिरोधानेषु कल्यतिरिक्तकालेष्वपि । किञ्च, पाषण्डो वेदबाह्यो धर्मः, स प्रचुरः अधिको यस्मिन्, एवंविधे लोके व्यवहार्यजनतायां सत्यां, सर्वप्रकारेण कृष्णाश्रयणं विना निस्तारो नास्त्येवेति सर्वस्यापि फलितार्थो ज्ञेयः । अत एव 'बृहन्नारदीये'प्युक्तं, 'हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम् । कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथे'ति । अत्र सर्वत्रापि क्वचिन्निमित्तसप्तमी, क्वचि 'द्दर्शनां कर्तृत्व' इत्यनेन सप्तमी ज्ञेया ॥ १ ॥

धर्मोत्पत्तौ बाह्याभ्यन्तरभेदेन बाधमुद्भावयन्तो निष्प्रत्यूहं श्रीकृष्णाश्रयणं विदधति ।

---

१ आश्रयो वेति पाठः ।

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

म्लेच्छाक्रान्तेष्विति । धर्माद्यर्थिभिर्वासयोग्येषु देशेषु कुरुक्षेत्रगङ्गातटादिषु म्लेच्छैराक्रान्तेषु व्याप्तेषु सत्सु, अत्रोभयथा म्लेच्छा ज्ञेया जात्या कर्मणा च । नन्वेवंविधेष्वपि देशेषु पुण्यात्मानो भविष्यन्त्येव तैः सह धर्माद्याचरणं कुतो नेत्यत आहुः— पापैकेति । कलिना ग्रस्तत्वात्पापस्यैवैकस्य निलयाः स्थानभूता जाताः । चकारादनेवंविधेष्वपि । एतेन धर्मादिषु बाह्यसाधननिवृत्तिरुक्ता । तर्ह्याभ्यन्तरसाधनं स्मरणादि कुतो नेत्यत आहुः—सत्पीडेति । सतां सत्पुरुषाणां धार्मिकाणां भगवत्परायणानामपि यादृशी पीडा नोचिता तादृश्या अपि दर्शनादन्येषां विश्वासशैथिल्येन व्यग्रेषु विक्षिप्तचित्तेषु कर्तव्यतामूढेषु लोकेषु सत्सु । कृष्ण एव गतिर्ममेति पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥ २ ॥

ननु गङ्गादिपूर्वोक्तपुण्यदेशानां वस्तुसामर्थ्येन साधनत्वं कुतो नेत्याशङ्क्य वस्तुसामर्थ्यतिरोधानान्न तथात्वमिति समाहितिपूर्वकं कृष्णाश्रयमाहुः—

गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

गङ्गादीति । आधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदैविकादिभेदेन त्रैविध्यं तीर्थादावप्यस्ति, तत्र 'पुरुषश्चाधिदैवत'मितिवचनाद्भगवद्रूपमेव तीर्थादौ सामर्थ्यरूपेणास्तीति मन्तव्यं, तच्च भगवदिच्छयेदानीं बहुधा तिरोहितं, न तु सर्वथा, अत एवंविधेषु गङ्गादितीर्थवर्येषु तीर्थमुख्येषु म्लेच्छादिभिः केवलदुष्टैरावृतेषु सत्सु, इह अस्मिन् भूलोके काले वा कृष्ण एव गतिर्ममेति पूर्ववत् ॥ ३ ॥

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।
लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अहङ्कारेति । किञ्च, वयं सर्वज्ञाः के वास्मत्तोधिकवेत्तारो यान् वयं पृच्छाम इत्येवंविधाहङ्कारेण विशेषतो मूढेषु आत्मोद्धारोपायज्ञानशून्येषु, 'लोकेष्वि'तिपदं पूर्वस्मादध्याहार्यम् । किञ्च, सत्सु महापुरुषेषु पापं दुष्टाचरणमपकार इति यावत्, तमनुवर्तयन्त्यनुतिष्ठन्ति ये ते पापानुवर्तिनः, एवंविधेषु सत्सु, अथवा जीविकाद्यर्थं सत्सु सत्पुरुषेषु पापानुवर्तिषु निषिद्धाचरणपरेषु । किंविशिष्टेषु तेषु लाभपूजेति । लाभो द्रव्यादेः पूजा

१ गङ्गाप्रवाहेष्विति पाठः । २ साधनत्वमिति पाठः । ३ उच्यते इति पाठः ।

स्वोन्नतिपूर्वकं लोककृतसन्माननं, अर्थः स्वप्रयोजनं, एतत्त्रितयसिद्ध्यर्थमेव यत्न उद्यमो येषां तेषु सत्सु, कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।
तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

अपरिज्ञानेति । वृद्धजनगुर्वाद्युपसत्त्यभावेन[1] चित्तोपशमात्पाठार्थविनियोगादीनामपरिज्ञानेन मन्त्रेषु नष्टेषु तिरोहितेषु सत्सु, पुनः किंविशिष्टेषु अव्रतयोगिषु अव्रतेषु व्रतभ्रष्टेषु योगः स्थितिरस्ति एषामेतेनैवंविधेष्वतिरोहितानामप्यकिञ्चित्करत्वमेव । यद्वा, स्वस्वाश्रयस्था योगिन उच्यन्ते तेष्वप्यव्रतेषु सत्सु । पुनः किंविशिष्टेषु तिरोहितार्थदेवेषु । तिरोहितः गुप्तः अर्थो मन्त्रार्थः, देवोऽधिष्ठात्री देवता, एतद्द्वयं येषां मन्त्राणां न ज्ञायते तैः क्रियानर्थः सेत्स्यतीति भावः ॥ ५ ॥

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।
पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

नानावादेति । कुतार्किकबौद्धचार्वाकोक्ता ये वादा वाग्जालरूपाः 'यावज्जीवेत्सुखं जीवेदि'त्येवंरूपाः, तैः कृत्वा वैदिकागमाद्युक्तसर्वकर्मव्रतादिषु विनष्टेषु विशेषतो नष्टेषु नास्तिक्येन पराङ्मुखेषु सत्सु । किञ्च, पाषण्डेषु वेदादिविरुद्धार्थेष्वेव एकः असाधारणः प्रयत्नः पुनः पुनरुद्यमो येषां, एवंविधेषु लोकेषु सत्सु कृष्ण एवेति, पूर्ववत् ॥ ६ ॥

विश्वासार्थं सदृष्टान्तमाश्रयणमाहुः—

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।
ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अजामिलादिदोषाणामिति । भूदेवस्तु ब्रह्मबन्धुरजामिलनाम्नो दोषाणां महापातकानां नाममात्रेण नाशकोऽस्माकमनुभवे स्थितः, शास्त्रानुभवे अन्तःसाक्षिप्रत्यक्षे वा स्थितो विषयीकृत इति यावत् । 'आदि'पदाद्गजेन्द्रप्रभृतयः, यमलोकस्थिता नारकिणश्च । इदं नृसिंहपुराणादौ प्रसिद्धम् । ज्ञापितं दैवजीवेष्वखिलं समग्रं निजमाहात्म्यं येन, एवंविधः कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ७ ॥

---

१ दाचार्योपसत्त्यभावेनेति पाठः ।

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।
पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात्कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

प्राकृता इति। सकला ब्रह्मादयो ये देवास्ते प्राकृताः, प्रकृतिर्माया तन्निबन्धनोत्पत्तिस्थितिविलया, अतस्तेषामाश्रयणं न कालादिभयनिवर्तकं प्रत्युत भयजनकमेव । अत एवोक्तं दशमे 'मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्नि'त्यादौ । तर्हि बृहदक्षरं तथास्त्विति चेत्तदपि नेत्याह—गणितानन्दकमिति । ब्रह्मापेक्षया शतगुणितानन्दत्वेनापरिमितानन्दत्वाभावात्पुरुषोत्तमापेक्षयाल्पत्वाद्धरेः सकलदुःखहारकस्य श्रीकृष्णस्य पूर्णानन्दत्वादखण्डितानन्दत्वात्सर्वैरुपायैः सर्वात्मना, कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ८ ॥

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

विवेकेति । 'विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यती'त्येवंरूपः, त्रिविधदुःखसहनं धैर्यपदार्थः । भक्तिपदेन क्रमायातमाश्रयणमुच्यते । आदिपदेन तत्साधनान्युच्यन्ते । एतेषां विविच्य निरूपणं तु 'विवेकधैर्याश्रय'व्याख्याने कृतमस्ति तत एवावगन्तव्यम् । विवेकादिभगवद्धर्मरहितस्य मम कृष्ण एव गतिः । किञ्च, न केवलमेतद्राहित्यमपि तु विशेषतोऽतिशयेन पापासक्तस्य महापातकाचरणरतस्यापि । पापवर्जनेऽसमर्थत्वाद्ग्लान्या दीनस्य । भगवताप्येतादृशानां स्वाश्रयेणैव सिद्धिरुक्ता 'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येपि स्युः पापयोनय'इति, 'अपि चेत्सुदुराचार' इत्यादौ ॥ ९ ॥

सर्वस्वनिवेदिनां साधनं फलं च स्वप्रभुरेव संपादयिष्यतीति प्रार्थनामपि तथैवाहुः—

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।
शरणस्थसमुद्धारं कृष्ण विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

सर्वसामर्थ्येति । कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं[१] समर्थत्वात्सर्वसामर्थ्यसहितस्त्वं मम प्रभुः। किंविशिष्टः सर्वत्रैव यत्र क्वाप्यखिलान्सर्वान्वाञ्छितानर्थान्करोतीत्यखिलार्थकृत् यतस्त्वमेवंविधः स्वामी अतः कारणात् कृष्ण हे परब्रह्म शरणस्थस्य शरणागतस्य सम्यगुद्धारं विज्ञापयामि अहं त्वत्पुरः स्थितः शरणार्थी॥ १० ॥

एतत्पाठमात्रपरस्याप्येतदुक्तफलमाहुः—

---

१ अन्यथाकरणेति ख. ग.

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत्कृष्णसन्निधौ ।
तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

कृष्णाश्रयमिति । कृष्ण आश्रीयते येन स्तोत्रेण तत्कृष्णाश्रयं, कृष्ण आश्रयः प्रतिपाद्योर्थो यस्येति वा । इदं यः कृष्णसन्निधौ समीपे 'सन्निधि'पदात्तदनन्यभक्तसमीपेपि पठनीयं सन्निधेस्तुल्यत्वात् पठेदधीयीत तस्याश्रयानभिज्ञस्यापि स्वयमेव कृष्ण आश्रयो भवेत् । कथमिदमतिदुर्लभमेतावन्मात्रेण भवेदिति नाशङ्कनीयं, यतः कारणात् इतिश्रीवल्लभोऽब्रवीत् । इति इममर्थं श्रीवल्लभ आचार्यवर्योऽब्रवीदुक्तवानतः किमाश्चर्यम् । अत्राचार्यवचनानां वस्तुशक्तिरेव प्रयोजिका, यतस्तद्वचनैः प्रेरितो भगवांस्तदाश्रयो भवति न तु तत्कृतमण्वपि साधनमपेक्षते ॥ ११ ॥

सुखेन श्रीयतां कृष्णः किमार्थैश्चिन्तया मुधा ।
आचार्यवाक्सुधासिक्ता माकृढ्वं संशयं जनाः ॥ २ ॥
आचार्यचरणाम्भोजे दृढं विश्वस्य विस्तरात् ।
रघुनाथश्चकारेदं कृष्णाश्रयविचारणम् ॥ १ ॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकशरणश्रीरघुनाथस्य कृतो
कृष्णाश्रयस्तोत्रविवरणं संपूर्णम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।



श्रीमत्कल्याणरायचरणविरचितप्रकाशप्रकाशितम् ।

यल्लीलालवसंस्पर्शान्न रोचन्तेऽन्यदाशिषः ।
तं राधाहृदयानन्ददायकं कृष्णमाश्रये ॥ १ ॥
यत्कृपादृष्टितो जन्तुर्गोविन्दं विन्दते मुदा ।
भक्त्याहं तान्निजाचार्यानभिवन्देऽर्थसिद्धये ॥ २ ॥

श्रीकृष्णाश्रयस्य सर्वसाधकत्वात्स्वीयानां तदर्थं वरप्रदानमिव कुर्वन्तः श्रीमदाचार्यचरणाः कृष्णाश्रयस्तोत्रं निरूपयन्ति । तत्राधुना देशादिषट्साधनानामसाधकत्वं वदन्तो भक्तानां भगवानेव सर्वसाधनरूपश्चतुर्विधपुरुषार्थरूप इति, दशलीलानिरूप्य इति, दशविधभक्तसेव्य इति, प्राणानामिवास्य स्तोत्रस्य सर्वसाधकत्वमिति च दशभिः श्लोकैः प्रार्थनाव्याजेन तं स्तुवन्ति । तत्र प्रथमं मुख्याङ्गत्वात्कालस्य तत्रासाधकत्वं वदन्तः कालधर्मनिराकरणपूर्वकमाश्रयं प्रार्थयन्ते—

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।
पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

सर्वमार्गेष्विति । कलौ खलधर्मिणि खलोऽन्तर्दुष्टो धर्मस्तद्वति सति । 'खरधर्मिणी'तिपाठे दुःसहचेष्टिते कलौ सतीत्यर्थः । 'कृषिर्भूवाचके'तिवाक्यनिरूप्यः सदानन्दः पुरुषोत्तम एव मम गम्यत इति गतिराश्रय ऐहिकपारलौकिकार्थसाधकोऽस्त्विति शेषः । खलधर्ममाहुः—लोके जने पाषण्डः प्रचुरः सर्वापेक्षयाधिको यस्मिंस्तादृशे सति । अत एव सर्वे मृग्यन्त इति मार्गाः पुरुषार्थोपायाः कर्मज्ञानादयस्तेषु नष्टप्रायेषु सत्सु, पाषण्डप्रवेशादात्मसुखबाधकस्वर्गपदस्य लोकभ्रमजननाच्चित्तशुद्ध्यजननात्कर्ममार्गस्य, मायावादाभिनिवेशाज्ज्ञानमार्गस्य, निरीश्वरत्वाङ्गीकाराद्योगस्य, विभूतिपरत्वादुपासनामार्गस्य च मुख्यफलासाधकत्वेन नष्टप्रायत्वम् । चकारान्महादेवादिषु कलिकालानुगुणेषु सत्सु, एवका-

---

१ काल–देश–द्रव्य–कर्तृ–मन्त्र–कर्मणाम् । २ ये कर्मादिभि पुरुषार्था मृग्यन्ते ।

रस्य । विशेष्यान्वितत्वेनान्ययोगव्यवच्छेदकत्वादंशः कलादिर्वा गतिर्नास्तीत्यर्थः । अन्यार्थकत्वादस्य सिद्धत्वेपि प्रार्थनं न दोषाय । ननु भक्तिमार्गीयाणामपि कलिकालस्य बाधकत्वाद्गृहाद्यासक्तिमत्वाल्लौकिकक्रियापरत्वात्पापसंभवाच्च भक्तिमार्गस्य कथमुद्धारकत्वं मुख्यफलसाधकत्वं चेति कर्मादितुल्यत्वात्किमाश्रयेणापीति चेत्, मैवं, भक्तिमार्गे त्वदुक्तदूषणानामभावात् । तथाहि—'कलेर्दोषनिधे'रिति 'कलौ तद्धरिकीर्तनादि'ति 'कलिं सभाजयन्ती'त्यादिवाक्यैर्बाधकत्वाभावादल्पकालेनैव फलसिद्धेः प्रत्युत साधकत्वात् । 'शृण्वन् गृणन्' 'मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मताः' 'तावद्रागादयः स्तेना' इत्यादिवाक्यैर्भगवत्परत्वे गृहादेर्बन्धहेतुत्वाभावात् । 'एवं नृणां क्रियायोगा' इत्यादिवाक्यैर्लौकिकक्रियाया अप्यलौकिकतुल्यत्वात् । 'मत्कर्म कुर्वता'मित्यादिवाक्यैर्भगवत्सेवादिना विहिताकरणेपि प्रत्यवायाभावात्, 'धुनोति सर्वं हृदि संनिविष्टः' 'ते मे न दण्डमर्हन्ती'त्यादिवाक्यैः कदाचित्पातकसंभवेपि नरकाद्यभावात्कीर्तनादिनैव पापनाशात् । 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' 'अपि चेत्सुदुराचारः' 'यः कश्चिद्वैष्णवो लोके, 'यानास्थाये'त्यादिवाक्यैराचाराद्यभावेपि फलसिद्धेः । 'धर्मः सत्यदयोपेतः' 'धर्मः स्वनुष्ठितः' 'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं' 'यमादिभिर्योगपथैः' 'श्रेयःसृति'मित्यादिवाक्यैर्'यथा जलौकसां नित्यं जीवनं सलिलं मतम् । तथा समस्तसिद्धीनां जीवनं भक्तिरिष्यत' इतिबृहन्नारदीयवाक्याच्च भक्तिरहितानां कर्मादीनामसाधकत्वात्, भक्तिसहितानामेव साधकत्वात् । 'यत्कर्मभिर्यत्तपसा' 'चतुर्विधाः' 'अकामः' 'ज्ञाने प्रयासमुदपास्य' 'किमलभ्यं' 'रूपमारोग्यमर्था'नित्यादिवाक्यैः केवलभक्तेरपि सर्वसाधकत्वात् । 'परिनिष्ठितोपि नैर्गुण्ये' 'आत्मारामाश्च' 'नैकात्मतां' 'महतां मधुद्वि'डित्यादिवाक्यैः स्वतोपि फलरूपत्वात् । अधुना कर्मादीनामधिकाराणां गतत्वाद्भक्तिमार्गे महदनुग्रहस्याधिकारत्वेनाधिकारिकृतस्यैव सफलत्वादत्राधिकारभेदेन गौणमुख्यफलसंभवात् । एतदुक्तं 'तत्त्वार्थदीपे'—'अधुना ह्यधिकारास्तु सर्व एव गताः कलौ । कृष्णश्चेत्सेव्यते भक्त्या कलिस्तस्य फलाय ही'ति भक्तिसाध्यफलस्यान्येनासंभवादन्यसाध्यस्य भक्तेरानुषङ्गिकत्वान्न कर्मादितुल्यत्वगन्धोपि । ननु पूर्णभक्तिमार्गस्याधिक्येपीह सामिकृतस्य तत्तुल्यत्वमिति चेत्, न 'स्मर्तव्यः' 'स्मृतेः' 'कृष्ण कृष्णे'ति 'न वै जनो जातु' 'कृष्णेति' 'आलोड्ये'त्यादिवाक्यैः सामिकृतस्यापि फलसाधकत्वादन्यस्य तदभावादलमुक्तिभिः ॥ १ ॥

---

१ एवकारो हि त्रिप्रकारकः—अन्ययोगव्यवच्छेदकोऽयोगव्यवच्छेदकोऽत्यन्तायोगव्यवच्छेदकश्चेति, विशेष्यान्वितः प्रथमो यथा पार्थ एव धनुर्धरः, विशेषणान्वितो द्वितीयो यथा शङ्खः पाण्डुरेव, क्रियान्वितस्तृतीयो यथा नीलं सरोजं भवत्येवेति । २. क्वचिन्नास्ति ।

भट्टश्रीगोविन्दराजकृतटिप्पणम् ।

मिलिन्दवृन्दोपमचारुकेशं सुभक्तशेषं सुखकारिदेशम् ।
पयोदनीकाशमनोज्ञवेशं तं वेङ्कटेशं शरणं प्रपद्ये ॥
नत्वा श्रीवल्लभाचार्यचरणौ शरणं सताम् ।
कृष्णाश्रयप्रकाशस्य व्याख्यानं सुनिरूप्यते ॥

संस्पर्शादिति । सम्यक् सम्बन्धादित्यर्थः । सम्बन्धे सम्यक्त्वं चात्रान्यापरिभूतत्वम् । अन्यदाशिष इति । न च अन्याश्च ता आशिषश्चेति विग्रहे अन्याशिष इति भाव्यमिति वाच्यम्, 'अषष्ठ्यतृतीयास्थस्ये'ति दुगागमात् । राधाहृदयानन्ददायकमिति । राधाहृदयायानन्दं ददातीति तथा । भगवत्सुखस्यानन्दरूपत्वान्नानुपपत्तिः काचित्, इतरथाऽव्याप्यवृत्तित्वेन सुखकथनस्यैवानौचित्यात् । अत एवोक्तं 'प्रेमामृत'टीकायाम् 'आनन्दोऽन्तःकरणदेहादिसर्वव्यापकः सुखमव्याप्यवृत्ती'ति । ननु 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि' 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'त्यादिभिः श्रुतिभिरानन्दस्य भगवद्रूपत्वात्तद्दायक इत्यर्थः पर्यवसन्न इति चेत्, इष्टापत्तेः, स्वरूपदानस्योचितत्वात् । एतेनानयोरभेदः सङ्गच्छते । तदुक्तमाथर्वणीयकृष्णोपनिषदि "पूर्णप्रेमास्पदी राधा श्रीकृष्णमनसोद्भवा', तस्मान्न भिन्नेति । यत्कृपादृष्टित इति । स्वीयत्वेन परिग्रहादित्यर्थः । अभिवन्द्य इति । भक्त्यार्थसिद्धये निजाचार्यानभिवन्द्य इति सम्बन्धः । तत्र सेवाविषयकप्रेम्णा निर्विघ्नग्रन्थपरिसमाप्तिसिद्ध्यर्थं निजाचार्यनमस्काररूपं मङ्गलं करोमीत्येतद्वाक्यार्थः । सेवा त्वत्र नमनादिरूपा । न च प्रेमविशिष्टसेवयेति वक्तुमुचितं, प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यात् । तथा चोक्तमस्मदाचार्यैर्निबन्धे 'धात्वर्थः सेवा प्रत्ययार्थः प्रेमेति' । तत्त्वार्थदीपे तु 'प्रेमसेवात' इति फलितार्थकथनम्, अन्यथा 'प्रत्ययार्थः प्रधानं प्रकृत्यर्थे विशेषणमि'तिन्यायविरोधः स्यात् । वस्तुतस्तु एतस्य सामान्यन्यायत्वेन विशेषन्यायस्यैव बलीयस्त्वात् । एतदुक्तं विवरणे 'प्रकृतिप्रत्यययोः प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यमितिसामान्यन्यायादिच्छाविषयतया शब्दबोध्य एव शाब्दसाधनतान्वय इति स्वर्गकामादिवाक्ये क्लृप्तविशेषन्यायस्य बलीयस्त्वादश्वेन जिगमिषति असिना जिघांसतीत्यादिलौकिकप्रयोगेऽश्वादिरूपसाधनस्य 'तदन्वेष्टव्यं तद्विजिज्ञासितव्यं मन्तव्यमित्यादिवैदिकप्रयोगे तव्यार्थभूतविधेश्च 'सन्'प्रत्ययाभिहितेच्छाविषय एव गमनादावन्वयस्य व्युत्पन्नत्वाच्च प्रकृत्यभिहितायां विद्यायां यज्ञादीनां विनियोग इति । ननु 'भावे'इत्यधिकारात्प्रत्ययार्थस्य भावत्वमुचितं न तु प्रेमत्वमिति चेत्, अत्रोच्यते, भावार्थकत्वं तु प्रत्ययस्य तावदुभयत्रादिसिद्धमेव, तत्र भावशब्देन देवादिविषयिणी रतिः प्रकृते

टिप्पणम्।

सर्गः। पुरुषाद्ब्रह्मादीनामुत्पत्तिर्विसर्गः। उत्पन्नानां तत्तन्मर्यादया पालनं स्थानम्। स्थितानामभिवृद्धिः पोषणम्। पुष्टानामाचार ऊतिः। तत्रापि सदाचारो मन्वन्तरम्। तत्रापि विष्णुभक्तिरीशानुकथा। भक्तानां प्रपञ्चाभावो निरोधः। निष्प्रपञ्चानां स्वरूपलाभो मुक्तिः। मुक्तानां ब्रह्मस्वरूपेणावस्थानमाश्रय इति'। दशविधभक्तसेव्य इति। सात्त्विकसात्त्विकाः, सात्त्विकराजसाः, सात्त्विकतामसाः। राजसराजसा, राजससात्त्विका, राजसतामसाः। तामसतामसाः, तामसराजसाः, तामससात्त्विकाः। एके निर्गुणा इत्येतैर्दशविधैर्भक्तैः सेव्य इत्यर्थः। प्रार्थनाव्याजेन स्तुवन्तीति। 'किमासनं ते गरुडासनाय' इत्यनेन प्रार्थनाव्याजेनैव स्तुतिनिरूपणस्यैवोचितत्वादिति भावः। गम्यते प्राप्यत इत्यर्थः। ननु 'भावे' इत्यधिकारात्कथमत्र कर्मणि प्रत्यय इति चेत्, सत्यम्, 'कृत्यल्युटो बहुल'मित्यत्र 'बहुल'मिति योगविभागात्तथा। अत एव 'एवं च बहुलग्रहणं योगविभागेन कृन्मात्रस्यार्थव्यभिचारार्थं पादाभ्यां ह्रियते पादहारकः कर्मणि ण्वुल्' इति वैयाकरणशिरोमणयः। पाषण्ड इति। वेदविरुद्धत्वं पाषण्डत्वम्। आत्मसुखवाचकेति। 'यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पद'मित्यनेन स्वर्गपदस्यात्मसुखवाचकत्वादित्यर्थः। लोकभ्रमजननादिति। लोकस्येन भ्रमजननादित्यर्थः। मायावादाभिनिवेशादिति। विवर्ताधिष्ठानत्वेन मायोपहितब्रह्मणः कर्तृत्वकथनादित्यर्थः। विवर्तस्तु अतात्त्विकोऽन्यथाभासः। यद्वा, वस्तुनस्तदसमसत्ताको विवर्तः। अथवा कारणविलक्षणोऽन्यथाभावो विवर्तः। कारणमेदं विनैव तद्व्यतिरेकेण दुर्वचं कार्यं विवर्त इति वा। निरीश्वरत्वाङ्गीकाराद्योगस्येति। निर्बीजयोगाङ्गीकारादित्यर्थः। योगस्तु चित्तवृत्तिनिरोधः स तु भगवद्ध्यानार्थमङ्गत्वेनोपयुक्त एकः। ध्यानाभावेऽप्यात्मबोधाङ्गभूतो द्वितीयः। उभावपि प्रामाणिकौ। यस्तु स्वतन्त्रतया फलसाधकत्वेन प्रोक्तस्तथासिद्धिहेतुर्ज्ञानात्मा वा तथान्ये देहेन्द्रियादिसाधकास्तेऽप्रामाणिकाः। सर्वमेतच्च निबन्धे स्पष्टम्। कलिकालानुगुणेष्विति। 'द्वापरादौ युगे भूत्वा कलया मानुषादिषु। स्वागमैः कल्पितैस्त्वं च जनान्मद्विमुखान् कुरु' 'मां च गोपय येन स्यात्सृष्टिरेषोत्तरोत्तरे'त्यादिपद्मपुराणाद्युक्तवचनैर्महादेवादीनां कलिकालानुगुणत्वस्य सिद्धत्वादित्यर्थः। अन्यार्थकत्वादिति। अत्र प्रमाणभूताः 'शुभिके शिर आरोह शोभयन्ती मुखं मम। मवाये वर्णो विश्वेष्वस्ति'त्याद्य आगमा अनुसन्धेया इति भावः। 'कलेर्दोषनिधे'रित्यारभ्या'भक्तोऽपि फल्गु'रित्यन्तानां वचनानां सङ्ग्रहः—'कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः। कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्' 'कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः। द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्' 'कलि

टिप्पणम्।

सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः । यत्र संकीर्तनादेव सर्वः स्वार्थोपि लभ्यते' 'शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते । क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोराविष्टचित्तो न भवाय कल्पते' 'गृहेष्वाविशतां वापि पुंसां कुशलकर्मणाम्। मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मताः' 'तावद्रागादयः स्तेनास्तावत्कारागृहं गृहम्। तावन्मोहोङ्घ्रिनिगडो यावत्कृष्ण न ते जनाः' 'एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः। त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे' 'मत्कर्म कुर्वतां पुंसां काललोपो भवेद्यदि। तत्कर्म तस्य कुर्वन्ति तिस्रः कोट्यो महर्षयः' 'स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः । विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चित् धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः' 'एवं विमृश्य सुधियो भगवत्यनन्ते सर्वात्मना विदधते खलु भावयोगम्। ते मे न दण्डमर्हन्त्यथ यद्यमीषां स्यात्पातकं तदपि हन्त्युरुगायवादः' 'ते देव सिद्धपरिगीतपवित्रगाथा ये साधवः समदृशो भगवत्प्रपन्नाः । तान्नोपसीदत हरेर्गदयाभिगुप्तान्नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे' 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच' 'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् । साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवहितो हि सः' 'यः कश्चिद्वैष्णवो लोके मिथ्याचारोप्यनाश्रमी । पुनाति सकलान् लोकान् सहस्रांशुरिवोदितः' 'यानास्थाय नरो राजन्न प्रमाद्येत कर्हिचित् । धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह' 'धर्मः सत्यदयोपेतः विद्या वा तपसान्विता । मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि' 'धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः । नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्' 'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् । कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्' 'यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः । मुकुन्दसेवया यद्वत्तथात्माद्धा न शाम्यति' 'श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये । तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्' 'यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् । योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि' 'सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेञ्जसा' 'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोर्जुन । आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ' 'अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः । तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्' 'ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम् । स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिर्ये प्रायशोजित जितोप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्' 'किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने । तथापि तत्परा राजन् नहि वाञ्छन्ति किञ्चन' 'रूपमारोग्यमर्थांश्च भोगांश्चैवानुषङ्गिकान्। ददाति ध्यायतो नित्यमपवर्गप्रदो हरिः' 'परिनिष्ठितोपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोक-

टिप्पणम् ।

लीलया । गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्' 'आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे । कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः' 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः । येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि' 'मद्दत्तं मधुद्विट्सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गु'रिति । भक्तिसाध्यफलस्येति भगवत्स्वरूपप्राप्तेरित्यर्थः । तदुक्तमस्मत्प्रभुभिर्भक्तिहंसे' 'भक्तौ च न स्वरूपातिरिक्तफलकत्व'मिति । 'स्मर्तव्य'इत्यारभ्य 'तद्भावा'दित्यन्तो वचनानि तु 'स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित् । सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतस्यैव च किङ्कराः' 'स्मृतेः सकलकल्याणभाजनं यत्र जायते । पुरुषं तमजं नित्यं व्रजामि शरणं हरिम्' 'कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति यो मां स्मरति नित्यशः । जलं भित्त्वा यथा पद्मं नरकादुद्धराम्यहम्' 'कृष्णेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते । भस्मीभवन्ति राजेन्द्र महापातककोटयः' 'न वै जनो जातु कथंचनाव्रजेन्मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग संसृतिम् । स्मरन्मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुनर्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो यतः' 'आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः । इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदे'ति । तत्र नवविधा भक्तिर्निदानं, ततः प्रेम, तेन च विशिष्टरूपभगवत्प्राप्तिः, सैव फलमिति फलसहितपूर्णभक्तिमार्गस्वरूपम् । अत एव सर्वनिर्णये 'स ज्ञानक्रियोभययुतः स एव फलं, तत्रापि साधनं प्रेमैव तत्साधनं नवविधा भक्ति'रिति श्रीमदाचार्यवर्याः । तथाच स्वामिकृतस्यापि स्मरणपर्यन्तं विहितस्यापि कायवाग्विनियोगस्नेहाभावेपि मनोमात्रस्थित्यैव तादृशपुरुषविहितस्य ... फलसाधकत्वमिति स्पष्ट एवेतरेभ्य उत्कर्षः । तथाचोक्तं निबन्धे—'कायवाग्विनियोगाभावेपि स्नेहाभावेपि मनोमात्रस्थितौ फलमेतदि'ति । कर्ममार्गस्य तु न तथा, साङ्गादृष्टैदिककर्मणः फलावश्यंभावनियमादिति तत्त्वम् ॥ १ ॥

प्रकाशः ।

ननु पुण्यदेशस्थितिमात्रेणापि पुरुषार्थसिद्धेः किमितीतरत्यपरच्छेदपूर्वकमाश्रयप्रार्थनमित्याशङ्क्य देशानामसाधकत्वं वदन्त आश्रयं प्रार्थयन्ते—

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

म्लेच्छाक्रान्तेष्विति । देशेषु हीनैराक्रान्तेषु सत्सु । ननु म्लेच्छा अपि न्यायवर्तिनश्चेत्तदा को दोषस्तत्राहुः—पापैकनिलयेष्विति । पापरूपा एव ते तदेकनिलयेषु, पापा ये मुख्यास्तन्निलयेषु, पापस्य वा । अथवा पूर्वोक्तेषु पापैकनिलयेषु च अङ्गवङ्गादिषु, यत्र गमनमात्रेण पुनः संस्कारसंभवः । ननु लोका वणिजादयः समीचीनाश्चेत्पापैः

१. अङ्गवङ्गकलिङ्गेषु सौराष्ट्रमगधेषु च । तीर्थयात्रां विना गच्छन् पुनः संस्कारमर्हतीति स्मृतेः

प्रकाशः ।

अपरिज्ञाननष्टेष्विति । मन्त्रा वैदिका आगमोक्ताश्च, तेषु अपरिज्ञाननष्टेषु अपरिज्ञानेन तात्पर्यफलदेवतास्वरूपाज्ञानेन नष्टप्रायेषु सत्सु । वैदिकानां गुरुकुलवासब्रह्मचर्यशूद्रासन्निध्यनध्यायराहित्यपूर्वकं पठितानां साधकत्वेनात्रतयोगिनामसाधकत्वात् । आगमोक्तानां तात्पर्याज्ञानेनार्थदेवयोस्तिरोभावादसाधकत्वात् । भगवदाश्रये तु 'यस्य स्मृत्ये'त्यादिवाक्यैः 'सद्य संपूर्णतां याती'ति मन्त्राणामपि साधकत्वात् ॥ ५ ॥

ननु मीमांसादिना मन्त्रतात्पर्यनिर्धारात्कर्मभिरेव फलसिद्धेः किमाश्रयेणेत्याशङ्क्य कर्मणामसाधकत्वं वदन्त आश्रयं प्रार्थयन्ते—

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।
पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

नानावादविनष्टेष्विति । कर्माणि सोमयागादीनि, व्रतादीनि च, तेषु सर्वेषु प्रपञ्चः सर्वोऽपि मिथ्येति वेदानामपि तथात्वात्प्रपञ्चवत्स्वाज्ञानकल्पितत्वेन वेदानां तद्बोधितानां च व्यवहारमात्रेण प्रामाण्यान्न किञ्चित्कर्तव्यं प्राप्तव्यं वास्तीति केषाञ्चिद्वादः, 'परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोऽग्रे' इत्यादिवाक्यैर्ब्रह्मादीनामपि यज्ञैरेवोत्कर्षात्पूर्ववासनात एवोत्तरोत्तरप्रवृत्तेः कर्मैव कर्तव्यं तेनैव फलं न कोऽप्युपास्यः फलदाता प्रवर्तको वा, देवतापि चेतना नास्ति किन्तु मन्त्रमय्येवेति न देवताप्रीतिव्यापारः फले वेति केषाञ्चिद्वादः, शास्त्रेण षोडशपदार्थविवेकानन्तरं श्रवणमनननिदिध्यासनैः स्वात्मसाक्षात्कारे सति दुःखात्यन्ताभाव एव फलं न भगवान्सेव्यः फलं वेति केषाञ्चिद्वादः, प्रकृतितद्विकारोपधानविलये पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थानं फलं, न भगवानिति केषाञ्चिन्मतम्, एवंविधैर्नानावादैर्विशेषेण नष्टेषु सत्सु । विपरीतार्थनिश्चयेन फलाजनकत्वाद्विनाशः । वस्तुतः 'पुरुष एवेदं सर्वं' 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं' 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः' 'एष ह्येव तं साधु कर्म कारयति' 'अहं सर्वस्य प्रभवः' 'को नु राजन्निन्द्रियवान्' 'देवोऽसुरो मनुष्यो वा' 'फलमत उपपत्तेः' 'त एवं तृप्तास्तर्पयन्त्येनमि'ति 'देवा वै सत्रमासत' 'विशते तदनन्तरम्' 'मामेवैष्यसि' 'आनन्दं ब्रह्मणो रूप'मित्यादिश्रुतिस्मृतिपुराणन्यायैः प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वात्सत्यत्वेन कर्तव्यस्य सफलत्वाद्भगवतः सर्वेश्वरत्वेन सेव्यत्वात्प्रवर्तकत्वात्फलदातृत्वात्तृप्तिसत्रकरणाद्यनुपपत्त्या देवतानामपि चेतनत्वाद्भगवत्सायुज्यस्य मोक्षत्वादानन्दरूपत्वेन भगवत एव फलरूपत्वात्पूर्वोक्तवादानां प्रलपितकल्पत्वात् । स्वमताग्रहेणैव निषिद्धदशम्यादिविद्धैकाद-

टिप्पणम् ।

प्रलपितकल्पत्वादिति । यत्तु 'शास्त्रदीपिकायां नवमाध्याये 'देवता वा प्रयोजयेत् अतिथिवद्भोजनस्य तदर्थत्वादि'त्यधिकरणे 'यद्यपि देवता विग्रहवती प्रतिगृह्य भुक्त्वा व्रजति प्रसीदति च तथापि यागादेव फलं विग्रहवती चानित्या' स्यात्, ततश्च नित्य-

टिप्पणम्।

वेदविषयत्वं न स्यात्, सत्यपि विग्रहे प्रत्तस्य हविषो देवतया भोगः प्रत्यक्षविरुद्धोऽशक्योऽभ्युपगन्तुम्, न चाभुञ्जाना प्रसीदतीति युक्तम्, अत एवाप्रतिपन्नापूर्वत्यागे देवताप्रसादे वा फलमित्येतदपि निरस्तं, न हि तस्याः प्रसादः संभवतीत्युक्त'मिति पार्थसारथिमिश्राः तत्प्रौढिवादमात्रमेव। तथाहि—'यदुक्तं विग्रहवती चानित्या स्यात्ततश्च नित्यवेदविषयत्वं न स्यादि'ति, तदपेशलं, अनित्यानामपि यागादीनां वेदविषयत्वात्, विग्रहवत्त्वेनैव फलजनकत्वस्य 'तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयती'त्यादिश्रुत्युक्तत्वाच्च। मुख्यार्थाबाधेन न श्रुतेरुपचरितार्थत्वम्। अर्थवादानां स्वतः प्रामाण्यं न तु विध्येकवाक्यतया। एतेनास्मिन्नेवाधिकरणे यच्छाबरभाष्ये सिद्धान्तितं तत्स्वमताग्रहमात्रमेव। प्रकृतमनुसरामः। यदपि 'सत्यपि विग्रहे प्रत्तस्य हविषो देवतया भोगः प्रत्यक्षविरुद्धोऽशक्योऽभ्युपगन्तुमि'ति, तदप्यविचाररमणीयम्। बिम्बादीनामपि प्रत्यक्षभोगाभावत्वेन 'सर्वमनुष्या विष्णुनाऽशितमश्नन्ती'तिश्रुतौ 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन' इति. स्मृतौ 'विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तरम्। पितृभ्यश्चापि तद्देयं तदानन्त्याय कल्पते' 'पितृशेषं तु यो दद्यात् हरये परमात्मने। रेतोधाः पितरस्तस्य भवन्ति क्लेशभागिन' इति स्कान्दे 'यः श्राद्धकाले हरिभुक्तशेषं ददाति भक्त्या पितृदेवतानाम्। तेनैव पिण्डांस्तुलसीविमिश्रानाकल्पकोटिं पितरस्तु तृप्ता' इति ब्राह्मे च प्रतिपादितस्य भोगस्य विरोधापत्तेः। यत्तु निर्णयसिन्धुः—'एतत्सर्वं निबन्धविरोधान्निर्मूल'मिति, तन्न, श्रीधरस्वामिनृसिंहपरिचर्यादिमूलं वदतः स्वस्यैव वदद्व्याघातात्। एतेन 'न चाभुञ्जाने'त्यारभ्य 'प्रसादः संभवतीत्युक्त'मित्यन्तं यदुक्तं तदेतेनैव निरस्तम्। वस्तुतस्तु विशिष्ट एव देवतेति न काप्यनुपपत्तिः। एतेन तदुक्तकर्ममार्गस्य प्रकल्पितकल्पत्वं सिद्धमिति निगर्वः। यत्तु मुक्तावस्थामात्मनिरूपणे 'सुतरामीश्वरभेद' इत्यारभ्य 'परमं साम्यमुपैतीति श्रूयते' इत्यन्तं पञ्चाननभट्टाचार्या आहुस्तत्प्रामादिकमेव। तथाहि यदुक्तं 'सुतरामीश्वरभेदोऽन्यथा बन्धमोक्षानुपपत्ते'रिति, तत्तुच्छं, बन्धस्य सांसारिकजीवविषयत्वेन सुतरां भेदाभावात्। यदपि 'योपीश्वराभेद' इत्यारभ्य 'समर्पिता' इत्यन्तं वदन्ति तदपि तथा। तथाहि अभेदबोधिका किल 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती'ति श्रुतिः। नहि तदीयत्वप्रतिपादनद्वारा स्तुतिस्तस्याः शक्योर्थोपि त्वौपचारिकः, न च श्रुतेरुपचरितार्थत्वं संभवति मुख्यार्थाबाधात्। अत एव 'अंशो नानाव्यपदेशा'दित्यधिकरणे 'अद्वैतश्रुतयस्तु जातिदेशकालाभेदेन निमित्तोपचारादि'त्युक्त्वा 'न च परपरास्तदौपचारिकं युक्त'मित्युक्तं वाचस्पतिमिश्रैः। न च 'सर्व एवात्मानः समर्पिता इति श्रुतिविरोधः, सर्वात्मनां तत्त्वेनैव भवन-

प्रकाशः ।

किं कार्यमत आहुः—सदिति । साधूनां पीडया व्यग्राः स्वधर्माचरणमेवानिष्टहेतुः प्रत्यक्षत्वान्न कार्यमुत प्राकृतं कर्म वेति व्याकुला लोका येषु । सद्धर्मस्य शुभहेतुत्वानिश्चयेन श्रद्धाद्यभावात्तेपि सहाया न भवन्तीत्यर्थः । 'अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः । यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि न' इत्यादिवाक्यैर्देशानां कृष्णाश्रितानुकूलत्वात् । शेषं पूर्ववत् ॥ २ ॥

टिप्पणम् ।

पापा ये मुख्या इति । फलितार्थकथनमेतत्, इतरथा विशेषणसमासे 'पूर्वकालैके'त्यनेनैकशब्दस्य पूर्वनिपातः स्यात् । विग्रहस्तु पापेषु ये मुख्या इति । यत्र गमनमात्रेण पुनः संस्कारसंभव इति । 'अङ्गवङ्गकलिङ्गेषु सौराष्ट्रमगधेषु च । तीर्थयात्रां विना गच्छन् पुनः संस्कारमर्हती'त्यनेन तथेत्यर्थः ॥ २ ॥

प्रकाशः ।

ननु गङ्गादितीर्थैरपि सर्वपुरुषार्थसिद्धेः किं केवलाश्रयेणेत्याशङ्क्य द्रव्याणामसाधकत्वं वदन्तस्तीर्थानामाहुः—

गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

गङ्गादीति । गङ्गादीनि यानि तीर्थश्रेष्ठानि तेषु दुष्टैरेवावृतेषु सत्सु, अतो न तैः पुरुषार्थसिद्धिः । ननु कथं दुष्टैरेवावृतत्वं तत्र ब्राह्मणादीनामपि सत्त्वात्, न, अतिपरिचयादनादरेण तत्र भक्त्यभावेन प्रतिग्रहाद्युपाधिभिरवस्थानाच्च तेषामपि दुष्टत्वमेव । ननु सर्वदोषनिवारकेषु तेषु सत्सु दुष्टत्वमसंभवीति चेत्, न, 'सर्वेण गाङ्गेन जलेन सम्यङ्मृत्लाशतेनाप्यथ भावदुष्टः । आजन्मतः स्नानपरोपि नित्यं न शुद्ध्यतीत्येव वयं वदाम' इत्यादित्यपुराणवचनात्, 'मत्स्यकच्छपमण्डूकास्तोये मग्ना दिवानिशं । वसन्तोपि च ते स्नानात्फलं नार्हन्ति कर्हिचित्' 'श्रद्धाविधिसमायुक्तं यत्कर्म क्रियते नृभिः । शुचि-

टिप्पणम् ।

द्रव्याणामसाधकत्वं वदन्तस्तीर्थानामिति । तीर्थस्य तद्देशावच्छिन्नप्रवाहात्मकाध्यात्मिकदेवतारूपत्वेन द्रव्यत्वमितिभावः । अत एवोक्तमस्मत्प्रभुभि'र्निबन्धे' 'द्वितीयस्य प्रवाहरूपतया तीर्थत्वमि'ति । यादवकोशेपि—'तीर्थं मन्त्राद्युपाध्यायशास्त्रेष्वम्भसि पावन' इति । उक्तं च दशमस्कन्धीयसुबोधिन्यां देवतारूपत्वं 'कालिन्दीति समाख्याते'त्यस्य व्याख्याने 'आध्यात्मिकं देवतारूपमि'ति । 'प्रायश्चित्तानि चीर्णानी'तिवचनत्रयाणि—

१. क्वचित्पुंलिङ्गपाठः । २. असंभावितमिति पाठः । ३

प्रकाशः ।

शुद्धेन भावेन तदानन्त्याय कल्पते ' 'विधिहीनं भावदुष्टं कृतमश्रद्धया च यत् । तद्धरन्त्यसुरास्तस्य मूढस्याकृतात्मन' इति योगियाज्ञवल्क्यवचोभिः, 'अश्रद्दधानः पापात्मा नास्तिकोच्छिन्नसंशयः । हेतुनिष्ठश्च पञ्चैते न तीर्थफलभागिन ' इति वायुपुराणवचनाच्च, ' प्रायश्चित्तानि चीर्णानी'त्यादिभिश्च तेषां भगवद्बहिर्मुख्यनास्तिक्यादिदोषानिवारकत्वात् । ननु वस्तुशक्त्यां सत्यां कथमेतत् , न ह्यग्निः कदाचिन्न दहतीत्याशङ्क्याधिदैविकदेवतारूपतिरोधानाद्वस्तुन एवाभावादित्याहुः—तिरोहिताधिदैवेष्विति । दुष्टान्नत्याधिदैवतिरोधानात्सतः मत्स्येव भाक्त्यात् , अत एव श्रीभागवततार्थतत्त्वदीपे ' तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानी'ति । अत एव सतां 'तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानी'त्यनेन तीर्थीकरणमुच्यते । आधिदैविकाभावे जले दृश्यमानदोषाभावाद्धि तीर्थीकरणं स्यात् । शेषं भाववत् ॥ ३ ॥

टिप्पणम् ।

'प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम् । न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवापगाः' 'तीर्थादावपि या मुक्तिः कदाचित्कस्यचिद्भवेत् । कृष्णप्रसादयुक्तस्य नान्यस्येति विनिश्चयः'. 'भवद्विधा भागवतास्तीर्थीभूताः स्वयं प्रभो । तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृते'ति ॥ ३ ॥

प्रकाशः ।

ननु कर्तृ[1]समीचीनत्वे सर्वफलसिद्धेः किमाश्रयेऽन्यत्यवच्छेदेनेत्याशङ्क्य कर्तृणामसाधकत्वं वदन्त आश्रयं प्रार्थयन्ते—

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।
लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अहङ्कारविमूढेष्विति । सत्सु पण्डितेषु अहङ्कारेण वयं शास्त्रज्ञा इतिगर्वेणान्यं पृच्छन्त्यपि नेति मायावादाद्यभिनिवेशाद्विशेषेण मूढेषु सत्सु । ज्ञानवत्कृतिरपि तेषां दुष्टेत्याहुः लाभपूजार्थयत्नेष्विति । लाभपूजार्थमेव यत्नो येषां, ते पारमार्थिकमपि कर्म लाभपूजाभ्यामेव कुर्वन्ति । पापान् पुंसः, पापं वानुवर्तन्तेऽतः सङ्गान्नदोषाभ्यां दुष्टत्वान्न तेषां स्वतः फलसिद्धिराश्रये तु भगवत्कृपायां स्वत एव वेदार्थस्वदोषयोः स्फुरणात्फलसिद्धिः, भगवान् भगवदीयो वा वेदार्थं जानातीति भक्तानामेव वेदतात्पर्यज्ञानात् । शेषं सुगमम् ॥ ४ ॥

पूर्ववदाशङ्क्य मन्त्राणामसाधकत्वं वदन्त आश्रयं प्रार्थयन्ते—

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।
तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

१ कर्तृसमीचीनत्वेनेति ख. ग.

मिति तदर्थात् । यदपि 'मोक्षदशायामज्ञाननिवृत्तावभेदो जायते इत्यपि न, भेदस्य नित्यत्वे नाशायोगात्' तदप्यसत्, भेदस्य भ्रममात्रविषयत्वेन वस्तुन एवाभावात् । यदपि 'भेदनाशेपि व्यक्तिद्वयं स्थास्यत्येवे'ति तदपि न 'एष संप्रसादः अस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इत्यादिश्रुतिविरोधात् । एतेन 'न च द्वित्वमपी'त्यारभ्य 'सर्वजनसिद्धत्वा'दित्यन्तं यदुक्तं तत्सर्वमनेनैव परास्तम् । यदपि 'योपि तदानीमभेदप्रतिपादक आगमः सोपि निर्दुःखत्वादिना साम्यं प्रतिपादयति संपदाधिक्ये पुरोहितोयं राजा संवृत्त इतिवदि'ति, तदपि न लब्धवर्णप्रतीक्ष्यं दत्तोत्तरत्वात् । 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती'ति श्रुतिस्तु जीवन्मुक्तपरा तस्मात्तार्किकमतस्यापि प्रलपितकल्पत्वं सिद्धमिति निष्कर्षः । वचनसङ्ग्रहस्तु—'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते । इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः' 'को नु राजन्निन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजं । न भजेत्सर्वतोमृत्युरुपास्यममरोत्तमैः । देवोसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वा । भजन्मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद्यथा वयम्' 'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोसि मे' इति ।

आचार्यचरणद्वन्द्ववन्दनानन्दितात्मना ।
शिष्येण बालकृष्णानां किञ्चिदत्र विचारितम् ॥

प्रकाशः ।

इत्यादिव्रतकरणाच्च । कर्मत्वेपि व्रतादीनां पृथगुपादानं ज्ञानाद्यङ्गत्वबोधनाय । ननु तेपि स्वयं कुर्वन्ति परानपि बोधयन्ति मिथ्यात्वनिःफलत्वाल्पफलत्वानन्दाभावज्ञाने कथं कुर्युः कथं वा बोधयेयुस्तेषामपि मतानां शङ्करजैमिनीगौतमादिप्रवर्तितत्वाचेत्यत आहुः—पाषण्डैकप्रयत्नेष्विति । पाषण्डनिमित्तमेव मुख्यः प्रयत्नो येषु 'त्वं च रुद्रे'तिसार्द्धेन 'त्वामाराध्ये'तिश्लोकद्वयेन च भगवता महादेवं प्रति तथैवाज्ञापनेन तथैव तेषां प्रवृत्तेः, स्वयं कर्मादिकरणेन स्वस्य महत्त्वख्यापनेन मतप्रवर्तनात्, 'यद्यदाचरति श्रेष्ठ' इतिन्यायात् । आधुनिकानां तैरेव मोहितत्वात् । नहि देवादिप्रवर्तितशास्त्रत्वमात्रेण सन्मतत्वं किन्तु वेदाविरोधित्वे सति वेदानुसारित्वात् । अन्यथा बृहस्पतिप्रवर्तितबौद्धशास्त्रस्यापि सन्मतत्वप्रसङ्ग इत्यलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या । शेषं प्राग्वत् ॥ ६ ॥

टिप्पणम् ।

'त्वं चे'त्यारभ्य 'भक्त्या त्वनन्यये'त्यन्तानां वचनानां सङ्ग्रहः—

'त्वं च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारय । अतथ्यानि वितथ्यानि दर्शयस्व महाभुज । प्रकाशं कुरु चात्मानमप्रकाशं च मां कुरु । त्वामाराध्य यथा शंभो ग्रही-

टिप्पणम् ।

ष्यामि वरं सदा । द्वापरादौ युगे भूत्वा कलया मानुषादिषु । स्वागमैः कल्पितैस्त्वं च जनान्मद्विमुखान् कुरु । मां च गोपय येन स्यात् सृष्टिरेषोत्तरोत्तरा ।' 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः । स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनु वर्तते ॥ ६ ॥

प्रकाशः ।

ननु 'धर्मेण पापमपनुदति' 'धर्मे सर्वं प्रतिष्ठित'मितिश्रुतेः पूर्वं दोषाभावाय धर्मः कार्यस्तेन चित्तशुद्धौ माहात्म्ये स्वरूपे च ज्ञाते तदाश्रयादिकं कार्यं न त्वाशु दोषवतैवान्यथा क्व योगिध्येयो भगवान् क दुष्टो जीव इत्याशङ्क्य 'यमेवैष वृणुते' 'रहुगणैतत्' 'भक्त्या त्वनन्यये' त्यादीनाङ्गीकृत्या महदनुग्रहेण च भक्त्या दोषवतापि गम्यत इति तन्माहात्म्यमपि तथेति महापुरुषद्वारा शरणागतौ सर्वं तत एव भविष्यतीत्यभिप्रेत्य भक्तानां भगवानेव चतुर्विधपुरुषार्थरूप इति प्रथमं धर्मरूपत्वं वदन्तस्तं प्रार्थयन्ते—

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।
ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अजामिलादीति । अनुभवविषयीभूतोऽजामिलादीनां ये दोषास्तेषां नाशकः । ज्ञापितं अखिलं माहात्म्यं येन तादृशः, तेन पापनिवर्तकत्वमिष्टप्रापकत्वं च धर्मकार्यमुक्तमतो दोषोपस्थितावपि तदाश्रयणमेव कार्यं भगवदीयानां न तु तं विहाय प्रायश्चित्तादीति सूचितम् । यद्वा, परम्परासंबन्धेनापि पूर्वोक्तः, स्वनामसाम्येनाप्यजामिलोद्धारात् अनुभवे स्थितो महदनुग्रहेण । ज्ञापितमखिलं लीलादिरूपं तद्येन । शेषं प्राग्वत् ॥ ७ ॥

टिप्पणम् ।

'रहुगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद्गृहाद्वा । न छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोभिषेकम्' 'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तपे'ति । अनुभवविषयीभूत इति । अजामिलादीनामिति शेषः । पक्षान्तरे स्वजामिलेतरभक्तविषयीभूतः सन्निति तदर्थः । अजामिलस्य तु परम्परासम्बन्धेन स्वनाम्नैवोद्धारात् । दोषोपस्थितावित्यारभ्य सूचितमित्यन्ते—ननु 'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते । आज्ञोच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोपि न मे प्रियः' इत्यनेन भक्तिमार्गीयस्यापि वेदविहितकरणत्वेन दोषोपस्थितावपि प्रायश्चित्तादेः प्राप्तत्वादित्थं कथमुच्यते इति चेत्, सत्यं, महादोषोपस्थितौ भगवदिच्छां ज्ञात्वा प्रायश्चित्तादिकरणम् । तदुक्तं सर्वनिर्णये 'प्रायश्चित्तं पातकादीनामि'ति । अल्पदोषोपस्थितौ तु तदाश्रयणमेव कार्यं न प्रायश्चित्तादि । एतदुक्तं सर्वनिर्णये—'अनेनाल्पबहिर्मुखतायामपि भागवतमनुसन्धेयमित्युपायः कथित' इति सर्वं समञ्जसम् ॥ ७ ॥

प्रकाशः ।

ननु 'तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' 'यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवत्यग्नेर्वायोरादित्यस्य सायुज्यं गच्छती'त्यादिश्रुतेः कर्ममार्गेऽपि ब्रह्मयज्ञाध्ययनादिनाग्न्यादिसायुज्यसिद्धे'र्ये त्वक्षर'मित्यादिना ज्ञानेनाप्यक्षरसायुज्यसिद्धेः को विशेषः कृष्णाश्रय इति किमिति तस्यैव प्रार्थनमित्याशङ्क्य तारतम्यज्ञानार्थं सर्वस्वरूपनिरूपणपूर्वकमर्थरूपतं वदन्तस्तं प्रार्थयन्ते—

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।
पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

प्राकृता इति । यस्मात्सकला देवाः प्राकृताः सत्त्वाहङ्कारप्रभवत्वात् । बृहदक्षरं गणितानन्दकं 'सैषानन्दस्य मीमांसा भवती' त्यारभ्य 'ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्द' इत्यन्तेन ब्रह्मानन्दस्य गणितत्वात् कृष्ण एव हरिः सर्वदुःखहर्ता

टिप्पणम् ।

ये त्वक्षरमित्यादिनेति । 'ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते । सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्' 'संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः । ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः' 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् । अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते' इत्येतेन तथेत्यर्थः । सैषानन्दस्येति । 'सैषानन्दस्य मीमांसा भवति । युवा स्यात्साधु युवाध्यायकः । आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः । तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात् स एको मानुष आनन्दः । ते ये शतं मानुषा आनन्दाः स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः स एकः पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दाः स एक आजानजानां देवानामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः, ये कर्मणा देवानपियन्ति श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः स एको देवानामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं देवानामानन्दाः स एक इन्द्रस्यानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः स एको बृहस्पतेरानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः स एकः प्रजापतेरानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्ये'त्यनेन प्रपाठकेन

प्रकाशः ।

पूर्णानन्दश्च । पूर्णश्चासावानन्दश्च, पूर्ण आनन्दो येन यत्र यस्मादिति वा, तस्मात्कृष्ण एव गतिर्ममास्तित्यर्थः । देवादिसायुज्येपि तेषां भक्त्युपधानेन तन्मुक्तेः सगुणत्वेन 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुने'तिभगवद्वाक्यात्पुनः संसारसंभवेनाल्पानन्दत्वेन स्वर्गवदमुक्तित्वात् । ज्ञानमार्गेऽक्षरमुक्तेर्निर्गुणत्वेप्यक्षरस्य गणितानन्दत्वेनाल्पत्वात् क्षुधितस्याल्पभोजनमभोजनमेवेतिवदप्रयोजकत्वात् । अज्ञातार्थदूरस्थार्थे 'क'प्रत्ययेनाव्यक्तत्वं पुरुषोत्तमापेक्षयाल्पत्वं च सूचितम् । पूर्णानन्दत्वेन निर्गुणमुक्तिदायकत्वेन कृष्ण एव शरणं भावनीय इति सिद्धम् । तदुक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः 'निर्गुणा मुक्तिरस्माद्धि सगुणा साऽन्यसेवये'ति । ननु 'ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ । भारव्ययाय च भुवः कृष्णौ यदुकुरूद्वहौ' 'कलाभ्यां नितरां हरेः' इत्यादिनांशत्वकथनाद्देहस्य च त्रिदिवेशादावपि पाञ्चभौतिकत्वजन्यत्वनियमेन जन्मश्रवणात् सुखस्यात्मगुणत्वेन भेदाच्च कथं पूर्णत्वं, कथं चानन्दरूपत्वमानन्दवत्त्वं तज्जनकत्वं वा परं वक्तुं शक्यमिति चेत्, मैवम्, 'ताविमा'वित्यादीनामर्थानवगमात् । तथाहि–भगवान् भक्तानामार्तिनाशार्थं सुखदानार्थं च प्रकटः भुवो भारव्ययायेहानयोः कृष्णार्जुनयोस्ताविमौ भगवतो हरेरंशौ चागतौ कृष्णयोर्यदुकुरूद्वहयोः प्रविष्टत्वाद्यदुकुरूद्वहौ कृष्णौ च जातौ, यत आगतौ तत्र यदुकुरूद्वहत्वाभावात् । तत्तत्कार्यकरणार्थं व्यूहेषु भगवतस्तत्तदंशापेक्षणादनयोरपि सङ्कर्षणांशत्वेन भूभारहरणार्थमपेक्षणात् । अंशयोरेवावतारत्वे पूर्णत्वाभावे 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' 'वसुदेवगृहे साक्षाद्भगवान् पुरुषः परः' । 'विदितोसि भवान् साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः पर' इत्यादिकं विरुध्येतात्र चकारश्च व्यर्थः

टिप्पणम् ।

ब्रह्मानन्दस्य गणितत्वादित्यर्थः । पूर्ण आनन्दो येनेति । मर्यादापुष्टिस्थस्येति शेषः । येनेति करणे तृतीया । ननु करणस्य व्यापारवत्त्वनियमात्कथमस्य फलोपधानासाधारणकारणत्वमिति चेत्, अत्रोच्यते, यत्र भगवान् साधनं कारयित्वैव फलं प्रयच्छति तत्र भगवतः करणत्वं, प्रयोज्यप्रवृत्त्युपहितप्रयोक्तृधर्मस्य साधनकारयितृत्वस्य तज्जन्यत्वेन व्यापारत्वादिति । पूर्ण आनन्दो यस्मादिति । पुष्टिस्थस्येत्यर्थः । हेतोर्निर्व्यापारसाधारणत्वात् । ननूभयोरपि मुख्यफलप्राप्तिमत्त्वेन को वा विशेषः पुष्टिस्थस्येति चेत् साधनानपेक्षत्वस्यैव विशेषादित्यलं बहुना । 'ताविमावि'त्यारभ्य 'प्रकृतेः परः' इत्यन्तानि वचनानि–'ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ । भारव्ययाय च भुवः कृष्णौ यदुकुरूद्वहौ' 'उभौ भूः पक्षसय्याख्या कलाभ्यां नितरां हरेः' 'अन्ये चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' 'वसुदेवगृहे साक्षात् भगवान् पुरुषः परः । जनिष्यते तत्प्रियार्थं संभवन्तु सुरस्त्रियः' 'विदितोसि भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः । केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृगि'ति । चकारश्च व्यर्थः स्यादिति । 'भारव्ययाय च भुवः' इत्य

प्रकाशः ।

स्यात् । तथाचोक्तं श्रीभागवत'तत्त्वार्थदीपे' 'सर्वातिरिक्तरूपेण नरः स्वावेशधारकः । तपोऽतिरिक्तकार्यं तु पूर्णे कृष्णे न चान्यथे'ति । 'सर्वे'ति । व्याख्या तु 'सर्वकार्यकर्तृत्वात्सर्वरूपो नारायणः । पुष्टिकार्यकर्तृत्वादतिरिक्तोऽवतारः । तत्राधिकारमाशङ्क्य परिहरति 'स्वावेशे'ति । नरस्तु तादृशमंशं बिभर्ति न त्ववतार इत्यर्थः । 'ताविमौ वै भगवत' इति मूलवाक्यं 'कृष्णस्तु स्वयं भगवाने'तेन विरुध्यते इति समाधत्ते 'तपोतिरिक्ते'ति । मार्गद्वयस्थापनार्थमवतीर्णोपि पूर्णप्राकट्याभावे कार्यं न सेत्स्यतीति पूर्णे कृष्ण एव प्रविष्टावंशाविति मूलार्थ' इति । 'बभावि'त्यत्र कलाभ्यामंशाभ्यां भूर्विभौ हरेः सम्बन्धिनी भूः पदैरनुभावैर्लीलाभिश्च नितरां बभावित्यर्थ इति । अन्यथोक्तवचनविरोधात् । देहस्य पाञ्चभौतिकत्वजन्यत्वनियमस्य प्राकृतविषयत्वादप्राकृते यथावेदमेवार्थसिद्धेः, अन्यथा ज्ञानेच्छादीनामनित्यत्वनियमान्नित्यं ज्ञानादिकमपि तत्र न सिद्ध्येत् । ननु ज्ञानादिभिरेव जगत्कर्तृत्वोपपत्तौ प्रत्यक्षबाधाच्च किमित्यानन्दमयो नित्यो देहोऽङ्गीकार्य इति चेत्, न, कर्तृत्वनिर्वाहार्थमेव व्याप्तिबलेन नित्यज्ञानवत्तथाविधदेहस्वीकारात् । नित्यापरिच्छिन्नतनोः प्राकट्यस्यैव जन्मत्वेन जन्यत्वाभावात् । 'आनन्दाद्ध्येव' 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'स यथा सैन्धवघनः' 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्' 'आनन्दमयोऽभ्या-

टिप्पणम् ।

भक्तार्तिनाशसुखदानादिकं चकारेण गृह्यते । तच्च पुष्टिपुरुषोत्तमकार्यमेवेति तदतिरिक्तकल्पनायां चकारो व्यर्थः स्यादित्यर्थः । व्याप्तिबलेनेति । अन्वयव्यतिरेकव्याप्तिबलेनेत्यर्थः । तथाहि यत्र यत्र कर्तृत्वं तत्र तत्र देहवत्त्वं यथा कुलालादावित्यन्वयव्याप्तिः । यत्र यत्र देहवत्त्वाभावस्तत्र तत्र कर्तृत्वाभावः, यथा मुक्तात्मनीति व्यतिरेकव्याप्तिरिति । न चाप्रयोजकत्वम्, देहवत एव कर्तृत्वात्, न ह्यशरीरी कुलालः शक्नोति कार्यं कर्तुम् । वस्तुतस्तु 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः' 'सर्वतः पाणिपादान्त'मित्यादिविरोधः । 'अशरीरं शरीरेष्वि'त्यादयस्तु पाञ्चभौतिकशरीरनिषेधपराः । न च व्रीहियववत् विकल्पसंभवः प्रमेयापहारनिबन्धनाभावात् । ननु गीतायां चतुर्दशाध्याये 'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति' इत्युपादाय 'गुणेभ्यो नान्यं कर्तारमनुपश्यत्यपि तु गुणा एव कर्माणि कुर्वन्तीति' श्रीधरस्वामिव्याख्यानाद्धेतुनिरूपितव्याप्त्यव्यतिव्याप्तिरिति चेत्, अत्र वदामः—गुणानामपि देहवत्त्वेनैव तथाकथनं न तु केवलतया । अत एवाग्रे 'गुणानतीत्ये'त्यस्य व्याख्याने 'देहाद्याकारः समुद्भवः परिणामो येषां ते देहसमुद्भवास्तानेतान् त्रीनपि गुणानतीत्यातिक्रम्ये'त्युक्तं श्रीधरस्वामिभिरिति विद्वांस एव विदाङ्कुर्वन्तु । 'आनन्दमात्रे'त्यारभ्य 'मुदितवक्त्र' इत्यन्तानि वचनानि । 'निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आत्म-

प्रकाशः ।

सात्' 'आह च तन्मात्रम्' 'केवलानुभवानन्दस्वरूपः' 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः' 'बहूनि सन्ति नामानि' 'श्रद्धया चोपनिषद्भिश्च' 'न चान्तर्न बहिर्यस्ये'त्यादिश्रुतिन्यायपुराणवाक्यसहस्रैः प्रमाणप्रकरणीयलीलाभिश्च पूर्ण एव देहप्राणेन्द्रियान्तःकरणात्मरूप एवानन्दरूपो ज्ञानरूपः पुरुषोत्तमो न त्वात्ममात्रमिति निर्धारयाम्बोधि । 'नित्यं विज्ञान'मिति 'पूर्णमेवावशिष्यते' 'भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञ' इत्यादिना नित्यत्वं, 'एष ह्येवानन्दयाती'ति श्रुतेरानन्दजनकत्वम् । 'कृष्णः प्रीतमनाः' 'वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीतिः' 'जातहर्षः' 'मुदितवक्त्र उपयाती'त्यादिनानन्दवत्त्वं चेति नानुपपन्नं किञ्चित् । तथाप्यानन्दत्वदेहत्वयोर्विरोध इति चेत्, न, स्वस्वाधिकरणे प्रमाणैरेकशोभयोः सिद्ध्यसिद्धिभ्यां च विरोधाभावात् । तथाप्यानन्दस्य धर्मिरूपत्वे कथं धर्मरूपत्वमिति चेत्' 'स यथा सैन्धवघनः' 'यः सर्वज्ञः' इतिश्रुतिभ्यां ज्ञानरूपत्वज्ञानाधारत्ववदानन्दरूपत्वतदाधारत्वयोरविरोधात् । श्रीमदस्मत्प्रभुचरणैः सर्वमेतद्यथा तथा विद्वन्मण्डने प्रपञ्चितमिति नात्र प्रपञ्च्यते ॥ ८ ॥

टिप्पणम् ।

सन्धो निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः । आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः सर्वत्र च स्वगतभेदविवर्जितात्मा' 'बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते । गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः' 'श्रद्धया चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्वतैः । उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं साममन्यतात्मजम्' 'न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम् । पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः' 'नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने महाभूतेष्वादिभूतं गतेषु । व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञः' 'एवं वृन्दावनं श्रीमान् कृष्णः प्रीतमनाः पशून् । रेमे संचारयन्नद्रेः सरिद्रोधस्सु सानुगः' 'वृन्दावनं गोवर्धनं यमुनापुलिनानि च । वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती राममाधवयोर्नृप' 'सहबलः स्रगवतंसविलासः सानुषु क्षितिभृतो व्रजदेव्यः । हर्षयन् यर्हि वेणुरवेण जातहर्ष उपरम्भति विश्वम्' 'यदुपतिर्द्विरदराजविहारो यामिनीपतिरिवैष दिनान्ते । मुदितवक्त्र उपयाति दुरन्तं मोचयन्व्रजगवां दिनतापमि'ति ॥ ८ ॥

प्रकाशः ।

ननु विवेकधैर्याभ्यां स्थित्वा भक्तिकरणे भगवानपि वशो भवतीति किमिति दैन्येनाश्रयः प्रार्थ्यते इत्याशङ्क्य सर्वमनोरथपूरकत्वात्सर्वफलार्थं काम्यत्वात्कापरूपवदन्तरुं प्रार्थयन्ते विवेकेति ।

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

पूर्वं प्रभुस्वरूपविचारेणाश्रयमुक्त्वा जीवस्वरूपविचारेणाधुनोच्यते । भगवान् स्वेच्छया सर्वं करिष्यति न प्रार्थनीय इतिनिश्चयो विवेकः । भक्तिविरोधिदुःखनिवृत्त्युपायाकरणेन त्रिदुःखसहनं धैर्यम् । भक्तिः साधनरूपापि । आदिपदात्गुणम् । विशेषत इति । तत्साधनैरपि रहितस्य । यद्वा, यत्किञ्चित्सत्त्वेपि विशेषतो नास्तीति न फलसिद्धिः । किञ्च, दीनस्य दरिद्रस्यातः सर्वसाधनरहितस्य । पापे आसक्तस्येति विपरीतसाधनवतो न तु मायादिरूपापस्य । कृष्ण एवेति पूर्ववत् । अन्यत्र यत्किञ्चिद्वैगुण्येपि वैफल्याद्देवताकोपादनिष्टजननाद्लपदत्वाच्चेदृशस्य विवेकादिकं दत्वा स्वतो वा सर्वफलदायकः परमकृपालुः कृष्ण एवेति स एवाश्रयणीय इति हृदयम् । नन्वस्मच्छब्दस्योच्चारयितृवाचकत्वादत्राचार्यचरणानां तथात्वाद्विशेषणान्यसङ्गतानीति चेत्, न, अस्यान्यार्थत्वेनान्याधिकारेण कथनाद्भगवता वेदेषु 'मयतपाणिः शरणं प्रपद्ये' 'भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम' 'स्वस्ति मेस्तु वनस्पते' इत्यादौ यजमानाधिकारेण कथन इवादोषत्वादिति सर्वमनवद्यम् ॥ ९ ॥

ननु सर्वथा निःसाधनस्य शरणागतावपि कथं समीहितसिद्धिः, भगवाँस्तु तत्तत्कृतिसापेक्षस्तस्मै तस्मै फलं ददाति, प्रत्युत भगवदेकशरणस्य तदेकमनसो देवान्तरानादरेण तैःकृता अपि विघ्नाः स्युः 'श्रेयांसि बहुविघ्नानी'तिवाक्यादित्याशङ्क्य मोक्षप्राप्यत्वान्मोक्षरूपत्वं विज्ञापनं च वदन्तः समादधते सर्वसामर्थ्यसहित इति ।

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।
शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

टिप्पणम् ।

प्रकाशः ।

सर्वं पूर्णं सामर्थ्यं सर्वेषां सर्वेषु वा, तत्सहित इतीच्छया स्वतोपि सर्वं करोति । यदि मर्यादां रक्षेत्तदा भगवत्त्वेन ज्ञानैश्वर्यधर्मादीनां सिद्धत्वात्तद्दत्वापि तत्तत्फलं दद्यात् । कदाचित्पूर्वस्थितमपि स्वस्मिन्नयेत्, सर्वत्र स्वस्यैव सामर्थ्यात् । 'यद्यद्विभूतिमत्' 'मत्तः सर्वं प्रवर्तते' इत्यादिवाक्यैः सर्वं सामर्थ्यं येषां सुदर्शनादीनां तैः सहित इति वा, तैरपि भक्तानिष्टनिवारणात्, 'अव्याहतानि कृष्णस्ये'तिवाक्यात् । ननु सामर्थ्ये सत्यपि कदाचिदाश्रितं न रक्षेत्, मर्यादयैव वा यदि फलं दद्यात्तदा किमाश्रयेणेत्यत आहुः—सर्वत्रैव देशेषु वर्णेषु आश्रमेषु कर्मादिषु वाखिलार्थान्करोतीत्यखिलार्थकृत् ताच्छील्यादौ क्विप् 'सकृदेव' 'ये दारागारपुत्राप्ते'त्यादिवाक्यैः सकृदपि शरणागतं भगवान् रक्षति किं पुनर्भजतः । मर्यादयापि फलदानेन्यनैरपेक्ष्येण भजतो भगवान्मर्यादानपेक्षः फलं प्रयच्छति, विहितत्वादिना भजतो मर्यादासापेक्षो 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति तन्मर्यादाया एव तादृशीत्वान्न क्षतिः । अत एव 'व्रजस्योवाह वै हर्षम्' 'चिक्रीडे जनयन्मुदम्' 'मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः' 'मुकुन्दो मुक्तिं ददाती'त्यादि 'तथा न ते माधव' 'मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्' 'वसति मनसि यस्ये'त्यादिवाक्यैः कालपराद्योपि चेद्भगवदीयाभिवर्तन्ते कुतस्तरां पुनरन्ये विघ्नकर्तार इति न किञ्चिद्दूषणम् । पूर्वोक्तं शरणे स्थितं सम्यगनायासेनोद्धरति, सकृदागतं तु यथाकथञ्चित् । ईदृशं श्रीकृष्णमहमाश्रयं विज्ञापयामि । 'कृष्णे'तिसम्बोधनपाठे शरणस्थसमुद्धारं विज्ञापयामीत्यन्वयः । अनेनेश्वरे दीनभावः कर्तव्य इति सूचितम्, दीनभावेन कृतस्यैवेश्वरतोषहेतुत्वात् ॥ १० ॥

टिप्पणम् ।

'यद्यदा'रभ्य 'अव्याहतानी'त्यन्तानि वचनानि 'यद्यद्विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा । तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसंभवम्' 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते । इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः' 'अव्याहतानि कृष्णस्य चक्रादीन्यायुधानि तम् । रक्षन्ति सकलापद्भ्यो येन विष्णुरुपासित' इति । ताच्छील्यादौ क्विबिति । 'आक्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिष्वि'तिस्मरणात् । 'सकृदेवे'त्यारभ्य 'तत्तथा साधयिष्यामी'त्यन्तानां वचनानां सङ्ग्रहः—'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम' 'ये दारागारपुत्राप्तप्राणान् वित्तमिमं परम् । हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे' 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् । मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः' 'दर्शयंस्तद्विदां लोके आत्मनो भृत्यवश्यताम् । व्रजस्योवाह वै हर्षं भगवान् बालचेष्टितैः' 'ततस्तु भगवान् कृ-

टिप्पणम् ।

वयस्यैर्व्रजबालकैः । सहरामो व्रजस्त्रीणां चिक्रीडे जनयन्मुदम्' 'तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः । स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितैरचीक्लृपन्नासनमात्मबन्धवे' 'राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां देवप्रियः कुलपतिः क्व च किङ्करो वः । अस्त्वेवमङ्ग भजतां भगवान् मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्' 'तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः । त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो' 'मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन् सर्वान् लोकान् निर्भयान्नाध्यगच्छत् । त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति' 'वसति मनसि यस्य सोऽव्ययात्मा पुरुषवरस्य न तस्य दृष्टिपातः । गतिरथ मम वा तवास्ति चक्रप्रतिहतवीर्यबलस्य सोऽन्यलोकः' ॥ १० ॥

प्रकाशः ।

'दश वै पशोः प्राणा आत्मैकादश' इतिश्रुतेः[१] प्राणानामिव सर्वसाधकत्वं ज्ञापयितुं दशभिः श्लोकैः स्तोत्रं निरूप्य फलस्यात्मवदक्षयत्वं ज्ञापयितुमेकादशेनात्मरूपेणैतत्स्तोत्रपाठफलमाहुः—

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत्कृष्णसन्निधौ ।
तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

कृष्ण आ समन्तात् श्रीयते सेव्यतेनेन, कृष्ण आश्रयो येन यस्मादिति येति कृष्णाश्रयम्, इदमेव कृष्णाश्रयं यथार्थनिरूपकत्वान्नान्यत् । कृष्णसन्निधौ तन्निमित्तं वा, इदं यः पठेत् तस्य कृष्ण आश्रयो भवेत् । अत्र 'हेतुहेतुमतोर्लिङ्' इदमिति नान्यपाठेनेदं फलं, स्वरूपाज्ञानात् । नन्वल्पायासादेतस्तोत्रपाठमात्रेण कथमेतत्फलं स्यादित्याशङ्क्याहुः—श्रीवल्लभ इति । इदमब्रवीत् अवदत् । स्वस्य भगवत्स्वरूपाभिन्नत्वाद्भगवता सर्वोद्धारार्थं प्रकटितत्वादुद्धारकस्वरूपत्वाच्च नात्राप्रामाण्यशङ्का, नहि भगवान् सत्यवाक् स्ववाचमन्यथाकरोति । यत्र प्रसङ्गान्नारदकृतं 'तत्तथा साधयिष्यामि यद्गीतं तन्महात्मने'ति सदनुग्रहो भगवान् स्वकृतमिव मन्यमानः पुरुषोत्तमः स्वयं त्र गत्वा नलकूबरमणीग्रीवोद्धारं कृतवान्, तत्र स्वयं सर्वार्थं प्रकटितस्य स्वस्वरूपस्य कृतौ वचने[२] वा किं किं न करिष्यतीति तत्कृपायां सर्वं भवतीति सर्वमनवद्यम् ॥ ११ ॥

टिप्पणम् ।

'देवर्षिर्मे प्रियतमो यदिमौ धनदात्मजौ ।
तत्तथा साधयिष्यामि यद्गीतं तन्महात्मनेति' ॥ ११ ॥

१ श्रुतिपदं क्वचिन्नास्ति । २ स्ववच इति पाठः क्वचित् ।

प्रकाशः ।

श्रीमद्विट्ठलनाथपादकमले संवन्द्य भक्त्या मुदा
कृष्णैकाश्रयिधीयोथ सातचरणान् तादृक्पितृन्यानपि ।
श्रीकृष्णाश्रयसंज्ञके स्तुतिवरे कल्याणरायाभिधः
श्रीगोविन्दसुतः प्रकाशमकरोद्भूयान्मुदे सद्धियाम् ॥ १ ॥

इति श्रीविट्ठलनाथचरणकमलैकमानश्रीकल्याणरायविरचितः
कृष्णाश्रयस्तोत्रप्रकाशः समाप्तः ।

टिप्पणम् ।

दूरीकरोति विकटं किल सङ्कटानां सङ्गं विशंकटतरं वरसेवकानाम् ।
यत्पद्मरागमणिवर्यविराजमानं सद्देङ्कटेशमुकुटं प्रकटं स्तुमः ॥ १ ॥
निखिलपण्डितमण्डलमण्डितं हरिमुखाब्जसरोरुहभास्करम् ।
अतुलमङ्गलनामविराजितं जनमनोहररूपमहं भजे ॥ २ ॥

श्रीमत्कल्याणरायाणां नमस्कृत्य पदद्वयम् ।
कृष्णाश्रयप्रकाशस्य तत्प्रणीतस्य टिप्पणम् ॥ ३ ॥
गुरुश्रीबालकृष्णानामात्मजेन सतां मतम् ।
कृतं गोविन्दराजेन नाम्ना तत्त्वनिरूपणम् ॥ ४ ॥

इति श्रीमत्कल्याणरायचरणकोकनदमधुपायमानान्तःकरणातिघरो-
पनामकबालकृष्णभट्टात्मजगोविन्दराजकृतं तत्त्वनिरूपणाभिधं
कृष्णाश्रयप्रकाशटिप्पणं समाप्तिमगमत् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमद्द्वारिकेश्वरचरणप्रणीतविवृतियुतम् ।

पशुपतिकृतिभिर्ये भ्रंशिता मुग्धचित्ता-
स्तदनुसृतकृतीन् स्वाज्ञानतः पातुमिच्छन् ।
अवददविकृतं यः स्वागमं सर्वभद्रम्
तमहमतिदयालुं वल्लभाख्यं नतोस्मि ॥ १ ॥

विरञ्चिकृष्णनारदैर्निरूपितैर्भृशं सदा
चिरन्तनीयसाधनैर्विसम्मतं कलिं विभुः ।
विलोक्य सर्वतोधिकं निजागमं ततान यः
सदा सुसंमतं सतां विशेषतः कलौ युगे ॥ २ ॥

ननु साक्षात्परम्परया च भगवत्प्राप्तिसाधनानां बहूनां विद्यमानत्वात्तानि विहाय किमित्याश्रय एव बोध्यते, किञ्च, क्रमेण नवविधलीलाप्रवेशज्ञानानन्तरं ह्याश्रयस्तज्ज्ञानं वा स्वत एव भविष्यतीति किमिति तत्प्रतिपादकं स्तोत्रमुच्यते तत्राह—सर्वमार्गेष्विति ।

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।
पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

तथापि निरोधस्य सर्वापेक्षया वरीयस्त्वान्मुक्तेरपि लोके तथात्वात्किमिति तौ विहायाश्रय एव निरूप्यते अत्रोच्यते 'आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते । स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते' 'या या साधनसंपत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये । तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः' 'सर्वमाश्रयतो भवे'दित्यादिवाक्यैराश्रयस्यैव सर्वसाधकत्वेनोक्तत्वात्सर्वसाधनफलरूपाभ्यां स एव परिणत इति तमेवाह—कृष्ण एव गतिर्ममेति ।

गतिशब्दः क्रियावाचकः, तेन गतिरित्युपलक्षणं किन्तु स एव भक्तिमार्गनिर्वाहतद्बन्धनिवर्तकतया परमभक्तिप्रतिपादकसाधनीभूततनुवित्तजादिप्रतिपादकशरीरतन्निष्क्रियारूपो भवत्वित्यध्याहारः । कथञ्चित्पूर्वमाश्रयोन्मुखं ज्ञात्वा पश्चाज्जीवैस्तदा-

श्रयः कर्तव्य इति नार्थः, सर्वतः सर्वांशेन कार्यसिद्ध्यभावं निश्चित्य स्वशिष्य तयात्वनिश्चये सत्यस्माकं सर्वथा लौकिकालौकिकफलसाधकोऽस्मत्कृतिनिरपेक्षः स भवतु । तथाभवनं तु तदिच्छासाध्यम् । भगवानाश्रयो भवतु मा वा, अस्माभिस्तदाश्रयैः सर्वथा भाव्यमेवेति निश्चित्याश्रयः सर्वथा कार्यः । एवंप्रपन्नानामाश्रयः सर्वथा भवत्येव, अन्यथा 'अनन्या' इति 'न मे भक्तः प्रणश्यति' इति भगवद्वचनं भज्येत । एवं सति सर्वफलस्वरूपस्याऽऽश्रयणोक्त्या साधनीभूतः क्रियते ततोधिकस्य फलस्याभावात्, प्रत्युत 'वृश्चिकभिये'-तिन्यायेन स्वरूपहानिप्रसङ्गः स्यादत्र ब्रूमः—कृष्ण एव गतिर्ममेति । एवं च परमभक्तिस्तु कृष्णैकफलिका तदनुग्रहैकलभ्या च, तथासति तत्सिद्धिप्रतिबन्धनिवृत्तिपूर्वकं तत्सिद्धौ तत्साधनादिनिर्वाहकसाधनतामापन्नो न हीनतामापद्यते । यथा—'योगमायामुपाश्रित' इत्यत्र रसमार्गेऽन्तरङ्गाश्रयणं न दोषाधायकं तन्मार्गस्यैव तथात्वात् । एवं भक्तिमार्गीयसर्वांशसाधने भगवतो न साधनरूपत्वमापद्यत इति सिद्धान्तः । यथा 'भर्ता सन् भ्रियमाणो बिभर्ती'त्यत्र भगवतस्तत्सम्बन्धिनां च परस्परमाधाराधेयभावे पोष्यपोषकभावे च नोभयोर्मध्ये कस्यापि हीनत्वं किन्तु तदेकपोषकत्वं तदेकपोष्यत्वं च भगवत उत्कर्षाधायकं, एवं तन्मार्गपक्षपाताद्भक्तिमार्गे सर्वांशेन फलत्वमापन्नस्य स्वस्य साधनतास्वीकारो न हीनत्वसंपादक इत्येवमभिसंधायाचार्यैरुक्तमिति भावः । धर्मादीनां च स्वसाधनसहितानामेव फलसाधकत्वं, तत्र देशकालादयो धर्मसाधनं तेषामिदानीमतथात्वं सर्वथा निरूपयन् पूर्वं कालस्यातथात्वमाह—सर्वमार्गेषु नष्टेष्विति । कलौ सर्वेषु मार्गेषु नष्टेषु सत्सु दैवैः कृष्ण एव गतिर्ममेत्येवंरूप आश्रयः कर्तव्य इति भावः । मार्गोक्त्या तेषां साङ्गानां स्वस्वाधिकारानुसारेण फलप्रापकत्वं निरूप्यते । नाशस्तु तेषां सर्वथा फलासाधकत्वरूपः । कलौ तत्तन्मार्गे किञ्चिदुद्यमानां तद्विध्याचरणेपि तत्फलाभावं दृष्ट्वान्येषामनुपलब्धिप्रमाणेन ततो विश्वासापगमाद्धाससतोपि तदाचरणपरम्पराया नाशः स्यादितिभावः । ननु सत्ययुगादीनां यथा धर्मसाधकत्वं तथैतस्यापि तथात्वे को दोषः कालत्वस्याविशेषादित्यत आह खलधर्मिणीति । खलाः सर्वथा बाह्याभ्यन्तरभेदेन धर्मादिकृत्यनुसन्धानरहिताश्च, अनुसंधानेपि द्वेषार्थमेव तदनुसन्धानं, न च स्वस्यान्येषां वा चिकीर्षाबुद्धिजनकत्वेन, अत एव 'ग्रन्तं गोमिथुनं पदे'ति तस्यासाधारणो धर्मो निरूपितः । ननु सर्वथा धर्मादिस्यक्तारः केचन भविष्यन्ति न तु सर्वे तेन तदुक्त्या सर्वे कथं तादृशा भविष्यन्तीत्यत आह पाषण्डप्रचुर इति । येपि लोके सन्मार्गाद्याचरणं कुर्वन्ति महान्तोपि तेपि प्रधाननुसृत्यैव कुर्वन्ति, अन्यथा तदा लोके पूज्यत्वं न स्यात् । पूर्वपक्षप्राचुर्ये तत्र श्रद्धाभावेप्यन्यानुरोधेनाप्यन्यथाचरणे स्वबुद्धिरपि तथैव जातेति तत्र स्वयं श्रद्धालवो भूत्वान्येषामपि तथात्वं संपादयन्तः प्रख्यापककाहृयो भूत्वा सुखेन तथाकुर्वन्तीति भावः ।

एतेनान्यानुरोधेनापि सन्मार्गत्यागः 'योन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणे'तिन्यायेन सर्वथा स्वनाशक इति ज्ञापितं भवति । तेन प्रावाहिकभक्तिमार्गोपि नष्ट इति ज्ञापितम् । चकारः समुच्चयार्थः । तथाहि–मार्गाश्च सर्वे नष्टास्तादृग्धर्मा कलिश्चाविर्भूतः, लोके पाषण्डश्च प्रचुरः । एवं सर्वथा सर्वनाशोपस्थितौ विविधशङ्कास्पदीभूतान्तःकरणान् स्वानुपदिशन्ति श्रीकृष्ण एव गतिर्ममेति । अवतारान्तरं तु मर्यादारूपमित्येवं निःसाधनानां धर्मादिप्रतिकूलसाधनवतां वा सर्वप्रतिबन्धनिवृत्तिपूर्वकं 'तवास्मी'त्युक्तिमात्रेण भक्त्यैकलभ्यः पुष्टिपुरुषोत्तम एवोद्धारं कर्तुं शक्त इत्येवकारेणांशकलावतारव्यवच्छेदपूर्वकं कृष्ण एव गतिर्ममेत्युक्तमेवमग्रेपि ज्ञेयम् ।

एवं कालस्य धर्मादिविरोधित्वमुक्त्वा देशस्यापि तथात्वमाह–म्लेच्छाक्रान्तेष्विति ।

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

यथा कालत्वस्याविशेषेपि सत्यादिरूप एव कालो धर्मसाधको भवति तथा देशत्वस्याविशेषेपि तीर्थादिरूप एव देशो धर्मादिकरणे साधनीभूतः । तीर्थमपि जलस्थलभेदेन द्विविधं, तत्र पूर्वं पुण्यक्षेत्रादिरूपस्य देशस्य पूर्ववदतथात्वमाह–म्लेच्छाक्रान्तेष्विति । साक्षात्परम्परया च देशाः सर्वे म्लेच्छैः आ-समन्तात्-क्रान्ताः । तत्तत्पुण्यक्षेत्रादिधर्मस्थानेषु तद्धर्मापगमार्थं द्वेषेण विपरीतकृतिपूर्वकं स्थितिराक्रमणम् । कुत्रचित्पुण्यादिभूमौ साक्षात्तत्रोत्पन्नविषयभोक्तारो भूत्वा तत्रैव तिष्ठन्ति कुत्रचित्तत्सन्निहितेषु । एवं तेषां साक्षात्स्थित्या स्वोत्पन्नविषयाणां तदेकभोग्यत्वेन च सर्वदेशानामधर्मसाधनत्वं जातम् । सर्वथा म्लेच्छीयत्वात्तेषाम् । म्लेच्छा अनाविष्टाः सन्तः सर्वथा धर्मादिविरोधिनः कलहप्रियाश्च 'मनसा वचसा कृत्या सद्धर्मपरिपन्थिनः । म्लेच्छदेशेषु संजाता भक्ष्याभक्ष्यविचारकाः' । ननु तत्रोत्पन्नाः सर्वे न तथाभूतास्तद्विपरीतानां बहूनां दृश्यमानत्वात्, यथा म्लेच्छसंसर्गात्सर्वोपि देशोऽधर्मजनकतां यात एवं तद्विपरीतधर्मवतां जातीयानामपि संसर्गा'त्संयोगपृथक्त्वन्यायेन देशाव्यवच्छेदेन कियद्देशेषु धर्मसाधनतास्त्विति चेत्तत्राह–पापैकनिलयेष्विति । सर्वे एव देशाः पापैकनिलया जाताः पापानामेको निलयः स्थानं तादृशा जाताः । तेन कुत्रापि धर्मवार्ता न श्रूयते । यद्वा पापास्त एव महीभोक्तारस्तदेकनिलयत्वात्तथा । येपि तद्विपरीतधर्मास्ते तु पूर्वजन्मनि ...गवा भूत्वा वेदनिन्दां कृतवन्त इति तादृशेषु जन्म प्राप्तवन्तोपि सत्स्वेव प्रविष्टा तेषु । तेन सतामिव तेषामपि धर्मादिनियन्तृत्वाभावः सूचितः । ननु तदाक्रा-

न्तेष्वपि देशेषु चातुर्वर्ण्यस्यापि विद्यमानत्वाद्दोषवत्त्वप्रतियोगित्वेन त एव सतां धर्मादिप्रवर्तने सहायाः कथं न भवन्तीति चेत्तत्राह—सत्पीडेति । चित्तस्थैर्ये हि सर्वेषां स्वधर्मानुसन्धानं भवति । सतां चकाराचदनुवर्तिनां च पीडया सर्व एव लोका व्यग्राः । सतां प्रसङ्गे पीडासंभवात्तदभावे धर्मादिसिद्ध्यभावाद्व्यग्रता । तथासति किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाह—कृष्ण एवेति । सर्वथा साधनाभावाद्धर्माभावेपि भक्तिवत्कल्पतरुस्वभावत्वेन सर्वधर्ममार्गीयफलतोप्यधिकफलप्रापकत्वेन श्रीकृष्ण एव गतिर्ममेत्येवंरूप आश्रय एव सर्वथा कार्य इत्याचार्याणां परमोक्तिरिति भावः ॥ २ ॥

एवं स्थलादिरूपतीर्थानामतथात्वमुक्त्वा जलादिरूपाणामपि तेषामतथात्वमाह—

गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

गङ्गादितीर्थवर्येष्विति । ननु 'गङ्गागङ्गेती'त्यादिनोक्तमाहात्म्यवतां गङ्गादीनां विद्यमानत्वात् कथं संसर्गदोषा बाधन्ते तत्राह दुष्टैरिति । 'नहि गङ्गासमं तीर्थम्' 'या वै लसदि'त्यादिना च सर्वेभ्यस्तीर्थेभ्यो गङ्गाया एव वरीयस्त्वस्योक्तत्वादतीर्थानपि तीर्थीकुर्वन्ती गङ्गैव गच्छति । एवंविधान्यतथाजातानि । किञ्च, अस्ति गङ्गायां त्रिरूपत्वमाधिदैविकादिभेदेन । तत्र तीर्थरूपं तु दुष्टसम्बन्धादेव नष्टं, तथाहि—भगवता 'त्वं च रुद्रे'त्यादिवाक्यैर्जगन्मोहनार्थं पशुपतेः प्रवर्तितत्वात्तत्र यथा सर्वे जीवन्तो मुमूर्षवश्च मुग्धा भवन्ति तदर्थं सर्वथा चित्तशुद्ध्यभावसाधनीभूततीर्थसम्बन्धाभावार्थं शिवेन स्वगणा गङ्गादिषु स्थापितास्ते तु गणास्तिष्ठन्ति तत्रत्यानां प्राणापगमे यथा तीर्थसम्बन्धो न भवति तथा ते यतन्ते । तत्सम्बन्धात्तीर्थरूपमेव नष्टं, तथाचोक्तं तैत्तिरीयके 'ये[1] तीर्थानि प्रचरन्ती'त्यादिना । अत एव तत्र मृतानामपि न तीर्थमरणफलमत एव तत्र मृताःसद्यः रुद्रपिशाचं ते प्राप्नुवन्ति न दोषादिनिवृत्तिः काश्यादिषु मुमूर्षूणां मनुष्यादिमारभ्य तिरश्चामपि । ननु तत्र मृतानामपि तारकब्रह्मोपदेशं शिवः करोतीति श्रुतं तथा सति कथं जलस्थलरूपाणां तेषां न शुद्धिसाधकत्वं, सत्यं, तत्तु पूर्वोक्तधर्मवत्कालाभावे न तु तद्वति । यद्वा 'त्वं चे'तिभगवदुक्तेः पूर्वं शिवस्तथाऽकरोत्तदनन्तरं तथाकरणे आज्ञाभङ्ग एव स्यादिति न तथा कृतवान् । तथापि निदर्शनस्येदानीं दृश्यमानत्वात्कथं न करोतीति तत्र शिवोपि वैष्णवत्वाद्भगवत्सम्मतमेव सर्वं करोति किञ्च, तथोपदेशं कुर्वन्नपि पूर्वं वैष्णवत्वेप्यसत्सङ्गेनापराधाद्वा दैत्यावेशे जाते स्वस्थानमाहात्म्यार्थमागन्तुकदोषपरिहारपूर्वकं पूर्वरूपतासंपादकत्वेन भगवद्दर्शयितृत्वात्

1 ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकावन्तो निषङ्गिणः । य एतावन्तश्च भूयांसश्च दिशो रुद्रा वितस्थिरे ॥

एव तारकब्रह्मोपदेशं करोतीत्यर्थः। अत एव 'प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम्। न निष्पुनन्ती'त्यादिना भगवद्बहिर्मुखस्य पवित्रीकरणसामर्थ्यं तीर्थादिष्वपि नास्तीति जातेपि तत्सम्बन्धे न कृतार्था भवन्तीत्यर्थः। तथा चोक्तं निबन्धे 'तीर्थादावपि या मुक्तिः कदाचित्कस्यचिद्भवेत्। कृष्णप्रसादयुक्तस्य नान्यस्येति विनिश्चय' इत्यादि सर्वमनवद्यम्। ननु गङ्गादेराधिदैविकरूपस्य विद्यमानत्वात् कथं तादृशैरावरणं तीर्थरूपनाशो वा भवेत्तत्राहुः तिरोहितेति। जलस्थलरूपेभ्य आधिदैविकं तिरोहितं तस्मादुष्टसंसर्गे अक्षरात्मकमपि तथैव जातम्। एवं सर्वेषां सर्वसाधनापगमे आश्रय एव साधीयानिति तमेवाहुः—कृष्ण एवेति ॥ ३ ॥

तथाप्यन्तरङ्गबहिरङ्गभेदेन सर्वधर्मप्रवर्तकानां सतां विद्यमानत्वात्कथं धर्मादिनाशः स्यात्तत्राह—

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।
लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अहङ्कारविमूढेष्विति। यदि तेपि तथाभूता भवेयुस्तदा कार्यं सिद्ध्येदेव तेषां स्वरूपमाह—परीक्षिति यस्मिन् विद्यमाने तच्छरणागतौ कलेरध्यवसायो जातः स एवाहङ्कार इदानीं सत्सु प्रविष्टः। यथैतत्सम्बन्धात्परमधार्मिकस्यापि विष्णुरातस्य कलेः स्थानदानेन त्रिदोषोत्पत्तौ मौढ्याद्ब्राह्मणातिक्रमे बुद्धिर्जातैवं सतामपि तत्सम्बन्धात्स्वधर्मपरित्यागे बुद्धिर्जातेत्यहङ्कारेण सर्व एव मुग्धा जाताः। एतेन कर्तॄणामप्यसाधकत्वमुक्तं भवति। यदि कर्तार एवाहङ्कारेण विमुग्धा जातास्तदा तत्कृतौ धर्माद्यसाधकत्वं किमाश्चर्यमिति कैमुतिकन्याय उक्तो भवति। अल्पमौढ्ये प्रकारान्तरेणापि तदपगमः स्यात्तदभावार्थं विशेषेण मूढत्वम्। तत्र निदर्शनं पापानुवर्तिष्विति। पापा निषिद्धकृतिभिस्तत्फलरूपतां प्राप्तास्तद्दत्तविषयभोक्तृत्वेनानुवर्तित्वम्। ननु तेपि स्वोपजीव्यान् परमधर्मादिकं बोधयन्त इव दृश्यन्ते कथं ते तादृशास्तत्राह लाभेति। लाभार्थं या पूजा तस्यामेव कृतप्रयत्ना न तु भगवत्कीर्तनादौ सन्तुष्टाः सन्तः परस्परं पूजयन्ति, तादृशी नापेक्षिता। यद्वा, स्वलाभार्थं स्वपूजार्थं च यत्नो येषामेतेनैतादृशकर्तॄणां मन्त्रादीनामसत्त्वाद्द्रव्याणामप्यसाधकत्वमुक्तम्। अत्र कर्तॄणां तदनुवर्तिनामेव द्रव्यादीनामसाधकत्वात्पूर्वं कर्तॄणामसाधकत्वमुक्त्वा पश्चाद्द्रव्याणामुक्तं, निमित्तोक्तौ नैमित्तिकोक्तिरपि सङ्गच्छते। तेन 'स्वयं नष्टः परान्नाशयती'तिन्यायेन सतां परम्पराप्येवंरूपैव जाता। यदि तेन स्य परस्य वामुष्मिकं सिद्ध्येत्तदा ते सन्त एव भवेयुः। दूरयथं तेषां तत्करणात् मायया च गृह्णन्ति मम नामानि चार्जुन। अमुख्यास्ते जनाः पार्थ दूरतः परिवर्जयेत्'

इत्यादिवाक्यैस्तेषामतथात्वप्रतिपादनाद्धर्मध्वजिवत्तत्कृतं सर्वमकृतप्रायं भवतीत्येवंरूप-सर्वनाश उपस्थिते सर्वेषां सर्वकार्यसाधक आश्रय एवाचार्यैरुपदिष्ट इति तथाह कृष्ण एवेति ॥ ४ ॥

ननु गोपालादितान्त्रिकवैदिकमन्त्रहरिदिनव्रतादीनां विद्यमानत्वात्तेषां च सर्वथा शोधकत्वात्कथं न तैस्तेषां पूर्वरूपत्वं तत्राह—

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।
तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

अपरिज्ञाननष्टेष्विति । तेषां परितो ज्ञानमङ्गान्युररीकृत्य फलपर्यन्तं स्वरूपनिर्धारः । किञ्च, गोपालादिमन्त्राणामपि वाराङ्गनावशीकरणादिकं फलत्वेन श्रूयत इ'त्यनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे' इतिवचनाद्भगवन्मन्त्राणां विषयादिषूपयोगोऽपरिज्ञानादेव भवति तेनानर्थोपशमस्य भक्तियोगस्य विषयाद्युपयोगे जाते नष्टत्वम् । गुरुकुलवासब्रह्मचर्यशूद्राश्रवणानध्यायराहित्यपूर्वकपठितानां वेदमन्त्राणां 'अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः' इतिन्यायेन सम्यक्तात्पर्याज्ञानेऽप्यध्ययनमात्रेणैव सर्वसाधकत्वात्कथं नष्टत्वं तत्राह—अव्रतयोगिष्विति । व्रतेष्वयोगो येषां, व्रतानामयोगो येष्विति वा । 'अधुना ह्यधिकारास्तु सर्व एव गताः कलौ' इतिवचनात्कृतानामपि तेषामव्रतयोगित्वम् । ननु किमित्यायासपूर्वकं कर्मव्रतादीनामसाधकत्वं साध्यते, किञ्च, 'दानव्रततपोहोम' 'जन्मान्तरसहस्रेष्वि'त्यादिवाक्यैः कर्मव्रतादीनां भक्तावपि साधकत्वं मन्तव्यं, तेन 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरमि'तिन्यायेन पूर्वमेव तेषामसाधकत्वं न वक्तुं शक्यमिति चेत्तत्राह—सत्यं, तानि वाक्यानि मर्यादिकभक्तिपराणि । नो चे'न्न रोधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म उद्धव । न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणाः' 'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः । स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्' 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहु श्रुतेने'त्यादिश्रुतिस्मृतयश्च न सङ्गच्छेयुः । भक्तौ भगवदिच्छैकसाध्यत्वं धर्मादिसाध्यत्वं श्रीमत्स्वामिचरणैर्भक्तिहेतुनिर्णये प्रपञ्चितमस्तीति नात्रोच्यते । तेन पुष्टिभक्तौ तु ' रोधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म एव च । न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता' 'न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च' 'प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम्' 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' 'नाहं वेदैर्न तपसे'त्यादिवाक्यसहस्रैर्भगवदङ्गीकृतानामेव तत्प्राप्तिः । तस्माद्भगवदाश्रये कर्मादीन्यप्रयोजकानि । ननु 'तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावते'त्यादिवचनैर्भगवदीयानामपि नित्यनैमित्तिकव्रतादिकरणप्राप्तेः

तत्र वेदसाधकत्वं वदति भगवान् तदा भगवदीयानामपि नित्यनैमित्तिककर्मादिकरणमेकादशीजन्माष्टमीव्रतादिकरणं च व्यर्थमिति चेत्, न । तत्र पूर्वं भगवदीयानां कर्मव्रतादीनां स्वरूपं वक्तव्यं तदेवाहुः—'यज्ञे विभूतीर्भवतस्तत्संपादय नः प्रभो' 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्' इति । तेन भगवदीयकृतकर्मणां 'यस्य स्मृत्ये'-त्यादिवाक्यैः पूर्णत्वमन्येषामपूर्णत्वादसाधकत्वम् । तेन स्वमार्गीयाणां तेषां तेभ्यो भेदः सूचितः । वस्तुतस्तु यत्र विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितानामपि तत्मासिस्तत्राकामतयापि कृतानां कर्मव्रतादीनामसाधकत्वं किमाश्चर्यम् । एतेन सर्वसाधनरहितानामेव भगवदाश्रये मुख्योधिकार इति ज्ञेयम् । तेन तेषां सपरिकराणां ज्ञानाभावे त एव नष्टा जाता इत्याह नष्टेष्विति । ननु तदधिष्ठातृदेवतानां तद्रूपसाधनैकलभ्यप्रसादानां विद्यमानत्वात्कथमपरिज्ञानं नाशो वा भवेत्तत्राह—तिरोहितेति । अर्थरूपा देवास्तेभ्यस्तिरोहिता जातास्तेन गतसाराः सन्तस्तेपि तथैव जाता इति भावः ॥ ५ ॥

ननु तान्त्रिकमन्त्राद्यभावेप्यग्निहोत्रचान्द्रायणकृच्छ्रादिनां विद्यमानत्वात्कथं न कार्यसिद्धिस्तत्राह—

यत्नस्तद्रूपत्वमेव स्यात् । एवमखिलकर्मभ्रतानां पाषण्डैकप्रयत्नरूपत्वे जाते ब्रह्मस्त्राणामप्याश्रय एव साधीयानित्याह—कृष्ण इति ॥ ६ ॥

नन्वेवं सर्वथा सदोषाणां तृतीयैकमार्गप्रवेशायोग्यानां 'गतिर्मम'त्येवंरूपोक्तिमात्रेण कथं भगवान् सर्वनिरपेक्ष आश्रयो भवेत्तत्राह—

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।
ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अजामिलादिदोषाणां नाशक इति । ब्रह्मवादे भगवतः सर्वाश्रयत्वेपि सर्वार्थे भक्तिमार्गीयाश्रयस्य जीवानां सर्वथा कर्तव्यत्वादाश्रयभजने महानुत्साहो भवति । यथा स्वनाममाहात्म्यख्यापनार्थं नामोक्तिमात्रेणैवाजामिलादीनां सर्वदोषनाशको जातः स्वधर्मपक्षपातादेवं भक्तिमार्गे पक्षपातात्तन्मार्गीयाश्रयमाहात्म्यख्यापनार्थं तादृगुक्तिमात्रेणैव भगवाँस्तथाविधो भवतीति भावः । तथापि जीवाः क्षुद्रतमाः क वा ब्रह्मादिदुर्लभकथो भगवानित्याश्रयभवननिश्चयाभावे कथं वा तमुद्दिश्य तथोक्तौ प्रवृत्तिरपि भवेत्तत्राह—अनुभवे इति । अत्रास्मच्छब्दोऽध्याहर्तव्यः । एवमाश्रयभवनोन्मुखो भगवान् मदनुभवे स्थित इति निर्णीतार्थोऽहं वदामीत्यज्ञानान्यथाज्ञानप्रतिकूलतर्कैर्नान्यथा शङ्कनीयमिति भावः । चित्तस्यातथात्वेपि निरन्तरं तदनुसन्धानपूर्वकमेतदुक्तौ सत्यां मदनुभूतो भगवानप्यनुभवारूढो भवतीति मदीयैरेतदेव सर्वथा कार्यमित्यलं विस्तरेण । ननु यथा कलौ श्रुत्यादिभिर्ज्ञातमाहात्म्या अपि धर्मादयो नष्टाः तथा 'कलौ दशसहस्राणि विष्णुस्त्यक्ष्यति मेदिनीम् । तदर्द्धं जाह्नवीतोयं तदर्द्धं ग्रामदेवता' इत्यादिना साक्षाद्भगवत्सान्निध्याभावे तन्माहात्म्यमपि तिरोभूतं भविष्यतीति कथमज्ञातमाहात्म्यास्तदाश्रयोक्तौ प्रवृत्ता भविष्यन्तीति चेत्तत्राह ज्ञापितेति । ज्ञापितमखिलमखिलेभ्यो भक्तेभ्यो वा श्रुतिपुराणश्रीभागवतादिना साक्षात्परम्परया वा माहात्म्यं यस्य येनेति वा । तथाहि 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इत्यादिनाऽखिलेभ्यः सृष्टिकर्तृत्वबोधिकया श्रुत्या माहात्म्यख्यापनम् प्रवृत्तिपराणां कर्ममाहात्म्यरूपमेव भगवन्माहात्म्यज्ञापनं तत्रैव पर्यवसितमतित्वाच्छेषमेवं ज्ञानिनामुपासकानां च । भक्तानां तु साक्षादेव यथा 'जृम्भतो ददृशे इदम्' यथा 'गरिमाणं शिशोर्वोढुं न सेहे गिरिकूटवत्' एवमूह्यमुख्या सर्वत्र ॥ ७ ॥

ननु 'आकाशात्पतितं तोयं यथे'त्यादिनोक्तप्रकारेण देवतान्तरं भजतामपि समुक्तौ भगवत्सम्बन्धो भविष्यतीति किमित्येवं निर्बन्धेनाश्रय एवोच्यते तत्राह—

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।
पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

प्राकृता इति । ब्रह्माणमारभ्य सर्व एव देवाः प्राकृता आधिभौतिकान्तःपातित्वात् । बृहदक्षरं गणितानन्दकं स्वार्थे 'कः' प्रत्ययः । तेन जीवेषु निरानन्दहेतूनामगणितानां विद्यमानत्वाद्यत्र गणितानन्देऽपि न तेषामानन्दपूर्णता तत्र प्राकृतैः कः पुरुषार्थः सिद्ध्येत् । तथापि विराडक्षरयोरपि तदात्मकत्वाविशेषेण कार्यसिद्ध्यभावे कथं मूलाश्रयणेन सर्वथा तद्भवत्येवेत्येवं निश्चीयते तत्राहुः—पूर्णेति । नहि पूर्वोक्तैः कैरप्यानन्दः पूर्यते । तत्र दुःखापगमाभावे पूरितोऽप्यपूरित एव स्याचत्राह—हरिरिति । यत्र 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'त्यादिना देवेष्वपि तद्धत्त्वमस्ति तथापि न तथा तेषामन्यपूरकत्वं तदल्पीयस्त्वात् । निरवधिदारिद्र्यस्य सावधित्वेनापगमस्याशक्यत्वादेवमपूर्णानपि प्रतिबन्धनिवृत्तिपूर्वकं कृष्ण एव पूर्णान् करोति । 'तं सत्यमानन्दनिधिं भजेते'त्यायेन स एव तथाकर्तव्य इति दिक् ॥ ८ ॥

ननु भवद्भिरेव भक्त्युत्पत्त्यर्थं तद्वाढ्यार्थं वा विवेकधैर्याश्रयाणां निरूपितत्वात्कथमितरनिरपेक्षः स एवोच्यते, किञ्च, आश्रयरक्षायाश्च तदुभयरक्षानन्तरं च भवद्भिरेवोक्तत्वात्कथं श्रीमतामेव वाक्यं विसंवादि भवतीति चेत्तत्राह—

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

णामप्यकारणं तत्र तत्करणे तदाश्रयस्य विद्यमानत्वादन्याश्रये जाते भगवदाश्रयानुत्पत्तिः स्यादतो यथा धर्मादित्यागस्तथाऽधर्मस्यापीति भावः । तर्हि पूर्ववाक्यमनुपपन्नमिति चेत्, न, अनवबोधात् । तथाहि 'एवं सति धर्मादिप्रतियोगित्वं कलौ सुलभमित्याश्रयाधिकारस्य बहुधा विद्यमानत्वा'देतस्यायमर्थः—विवेकधैर्यभक्त्यादिसहितास्तु कलौ दुर्लभाः पापकर्तारस्तु सुलभा इति तदधिकारस्य बहुधा विद्यमानत्वम् । ननु धर्मकर्तारस्तु सर्वथा तत्रानधिकारिणः परमधर्माकर्तार एवाधिकारिण इत्यायातमिति चेत् ? तत्रोच्यते । धर्मादिमतां विवेकधैर्यभक्तिमतां चेत्त्यागपूर्वकं केवलाश्रयकरणं सहसा न भवति तेषु समीचीनत्वबुद्धेः । यथा प्रभुणा सर्वधर्मत्याग उपदिष्टे पार्थस्य तत्करणे शोकोत्पत्तौ पुनः प्रभुणैव 'पापेभ्यो मोक्षयिष्यामी'त्युक्तं, नोचेच्छरणधर्मे तदसंभवात्तन्मोचनकथनमनुपपन्नं भवति तथैवैतेषामपि शोकसंभवः । एवं तद्विपरीतवतां तु तेष्वसद्बुद्ध्या निस्साधनेष्वेव श्रीगोकुलेशाङ्गीकारप्राचुर्यावलोकाच्च तत्त्यागः सुलभ इति सुष्ठूक्तं 'धर्मादिप्रतियोगित्व'मित्यनेनेति सर्वमनवद्यम् ॥ ९ ॥

ननु 'श्रेयांसि बहुविघ्नानी'ति न्यायेन प्रतिबन्धकानां दृष्टादृष्टभेदाभ्यां बहुधा विद्यमानत्वात्कथमुक्तिमात्रेण वाञ्छितकर्ता भगवानाश्रयो भवेदत्राह—

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।
शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

सर्वसामर्थ्यसहित इति । कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुसामर्थ्यादिरूपैः सहितः । ननु तत्र दृष्टान्तनिदर्शनस्यादृश्यमानत्वात्कथं ज्ञायते तत्राह सर्वत्रेति । सर्वत्र योग्यायोग्यविचारेणाखिलानामखिलान् कार्यान् करोति करिष्यत्यकार्षीदित्यादिधर्मस्याविनाशित्वेन भगवति सर्वदा विद्यमानत्वादाश्रयकरणे कोनध्यवसाय इत्यर्थः । तथापि भगवत्सर्वसमत्वात्सर्वमुक्तमनवसरेऽप्रार्थितः कथमुद्धरिष्यतीत्यत आह शरणस्थेति । ये शरणं गत्वा तस्मिन्नेव धर्मे स्थितास्तेषामुद्धरणे अप्रार्थितोऽपि भूकृतप्रयत्नः सर्वदैव वर्त्ते किं पुनर्मत्प्रार्थितः । यथा भूम्युद्धारचिकीर्षायामपि ब्रह्मणा भूम्या दुःखनिवेदनरू प्रार्थनानन्तरमेव सर्वाधौ तद्गिरः श्रवणानन्तरमेव साक्षाद्भगवानवतीर्यास्मानुद्धरिष्यतीत्ये निश्चयो जात एवं मत्प्रार्थितो मदीयानामाश्रयो भवत्येवेति निश्चित्य मदीयैः सर्वथा द परित्यज्याश्रय एव कर्तव्यः । एतदेवाभिसंधायाचार्यैरुक्तं कृष्णं विज्ञापयाम्यहमिति । यद्वा, मदीयैरेवं स्तुतिरेव कार्या, मत्प्रार्थितः स्वयमेवाश्रयो भविष्यति नात्र युष्मत्कृतिमपेक्ष

नत्वभिश्च स्तुतिः पूर्वं कर्तव्याश्रयणेप्सुभिः ।
दशमे स्वस्य धर्मस्य साधकं ज्ञापयेद्बुधः ॥ १० ॥

---

१ कार्यस्येतिपाठः ।

पाठफलमाह—

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत्कृष्णसन्निधौ ।
तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रमिति । कृष्ण आश्रयो भवत्यस्मादिति कृष्णाश्रय इति स्तोत्रस्य नाम । फलाधिकारिणां पाठविधिं चाह—सन्निधौ सेव्यस्य गुरोर्वा । उभयोरभावे स्मरणीयस्य वा । धर्मादिषु सर्वेषु असाधनतानिश्चयः कृतार्थताविपर्ययिण्युत्कटेच्छा च पूर्वावधिः। अल्पे बहु च साध्ये भगवान् स्वतः सर्वसाधको भवतीत्येवंरूप आश्रयसिद्धिरुत्तरावधिः। तावदिदं पठनीयमिति सिद्धम् । यः पठेत् कृष्णसन्निधौ । य एव पठेत्तत्तद्धर्माविष्टान्तःकरणः अतथाभूतो वा । ततः किं स्यादत आह तस्याश्रयो भवेत् । क इत्याकाङ्क्षायां कृष्ण इति । कृष्णः सदानन्दः । तेन तदाश्रितानां व्रजस्थानामिव सर्वथा दुःखात्यन्ताभावः परमानन्दसम्बन्धश्चोक्तौ भवतः । नन्वत्र किं प्रमाणमेतत्स्तोत्रपाठमात्रेणैव स तथा भवेद् श्रीवल्लभ इति । यथा श्रिया वल्लभो भगवाँस्तथायमपीति भगवद्वाक्यमिवास्यापि वाक्यं वेदात्मकमिति मूर्ध्नि धृत्वा तथैव कर्तव्यमित्यर्थः । किञ्च, भगवद्धर्माणां स्वरूपं तद्धर्मनिरता एव जानन्तीति तदुक्तौ न विप्रतिपन्नैः कैरपि भाव्यमिति दिक् ॥ ११ ॥

व्रजपतिरतिमित्थं यः प्रदातुं कृपातः
सकलनिगमसारं तत्त्वतः संजगाद ।
स्वजनपरिवृढो भ्रुक् संततेः संशयानाम्
स भवतु मम सर्वं विट्ठलेशः सुकेशः ॥ १ ॥
रुचिरचरणयुग्मं हृत्प्रवेशे तितिग्मम्
निजमनसि विहारं ध्वस्तगाढान्धकारम् ।
व्रजिनवनकुठारं प्राप्तलोकोपहारम्
सकलनिगमसारं भावयेद्विट्ठलेशम् ॥ २ ॥
आश्रयस्तोत्रविवृतिं द्वारिकेश्वरशुद्धधीः ।
आश्रितानां चकारेमामाश्रयज्ञापनेच्छया ॥ ३ ॥

इति श्रीमद्गोपीजनवल्लभचरणैकतानद्वारिकेश्वरेण विरचिता
कृष्णाश्रयविवृतिः सम्पूर्णा ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमद्व्रजराजचरणविरचितविवरणविभूषितम् ।

यद्वाक्यमात्रकथनात् स्वीयत्वं मनुते हरिः ।
ते कृष्णवल्लभाचार्याः प्रसीदन्तु सदा मयि ॥ १ ॥
तदनुग्रहतः कृष्णाश्रयस्य विवृतिर्मया ।
विधीयते यतः कृष्णाश्रयः फलति सर्वथा ॥ २ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणा भगवदाज्ञानुसारेण जनानुद्धर्तुं निबन्धादौ सपरिकरं भक्त्यादिमार्गाननुपदिश्य प्रत्यहं कलेराधिक्येन तेषां दुःसाध्यत्वमाकलय्य विवेकधैर्याश्रय-ग्रन्थे विवेकधैर्याभ्यां सहितमाश्रयमुपदिष्टवन्तः, तत्स्वरूपं च तत्र सर्वथा सर्वदा भगव-च्छरणगमनात्मकं सिद्धं, तथाच तत् कायिकादिभेदेन त्रिधा भवति, तत्र प्रथमं मानसं शरणं भावनात्मकं भवति, पश्चात् कायिकं तद्धैर्येण सिद्ध्यति, वाचनिकं तु 'प्रपन्नं पाहि मां प्रभो' इत्यादिप्रार्थनारूपम् । एतादृशस्य भवनेपि कारणं भगवदनुग्रह एवेति 'सोहं तवाङ्घ्री'त्यक्रूरस्तुतौ 'असतां दुरापं तथाप्यहं भवदनुग्रहमीश मन्य' इति स्वानुभवेन प्रतिपादितम् । शरणागतिलक्षणं च तत्रैवोक्तं 'यदि सङ्घातमनुगुणं कुर्यात् त्याजयेद्वा तदा शरणागतिः सिद्धेति ज्ञातव्य'मित्यारभ्य 'सत्सेवाहरिचिर्भगवत्स्वरूपज्ञानेच्छा भगव-च्छास्त्रपरत्वं चान्तिमजन्मज्ञापक'मित्यन्तेन । 'अनुगुणपक्षस्तु सुगम' इति च । एवं सत्ये-तादृशी शरणागतिर्विवेकधैर्याश्रयोक्तरीत्यापि साम्प्रतं कठिनेति भक्त्यादिमार्गाणां दुःसा-ध्यत्वे हेतुरपि तत्र नोक्त इति निबन्धाद्युक्तोपि दुर्ज्ञेय इति तदुक्तिपूर्वकं साङ्गां वार्त-निर्की तां सांप्रतं साधनत्वेन विवक्षन्तः कृष्णाश्रयस्तोत्ररूपेणाहुः—सर्वेत्यादि ।

अत्र टीकारम्भे श्रीरघुनाथचरणैर्ग्रन्थावतरणिका कापि नोक्ता परन्तु 'आविरासीद्धरेरस्मिन् कलौ श्रीवल्लभाभिधः । निजदास्यं स नो देयादन्यादपि दुराश्रया-दि'तिमङ्गलवाक्ये कलिस्वरूपस्य श्रीमदाचार्येषु प्रार्थनस्य च कथनेन सूचितेति विरोधः । एवं कल्याणरायैरपि कृष्णाश्रयस्य सर्वसाधकत्वं सर्वसाधनानामसाधकत्वं चोक्तमिति तेषामप्ययमेवाशयः । श्लोकसङ्ख्यातात्पर्यं तैरेवमुक्तं 'भक्तानां भगवान्

देशादिषट्साधनरूपश्चतुर्विधपुमर्थरूपश्चेति, दशलीलानिरूप्य इति, दशविधभक्तसेव्य इति', स्तोत्रार्थरूपे भगवति दशविधाः 'दश वै पशुषु प्राणा'इतिश्रुतेः प्राणानां दशत्वं, ते यथा साधकास्तथा स्तोत्रमपीति शब्देपि दशविधाः। अतोऽर्थमनुकूलयन् शब्द एवायं साधक इतिबोधनाय प्रार्थनाव्याजेन स्तुवन्तीति। द्वारिकेश्वरैस्तु 'आभासश्च निरोधश्चे'ति वाक्यलिखनेन 'नच लक्षणलक्षितया यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्ती'तिवदत्र दशसङ्ख्यापूरकसर्वफलरूपोत्र विवक्षित इत्याशय उद्घाटितः। तथा च 'या या साधनसंपत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये। तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रय' इतिवाक्यलिखनेनाश्रयशब्दः कृष्णाश्रय इति स्तोत्रनामेति तेषामाशयः। मम त्वन्यदपि प्रतिभाति–यथाक्रूरेण प्रसन्नप्रत्यक्षो भगवान् स्वाधिकारानुसारेण शरणतया प्रार्थितस्तथाऽऽचार्यैरपि स्वप्रकटितभक्तिमार्गफलदानानुकूलः प्रसन्नः स्वोक्तिपठनमात्रेणाश्रयदानं कर्तुं समयविशेषे प्रार्थितस्तदौ कृतवानिति तज्ज्ञापकमिदं प्रार्थनाघटितं स्तोत्रमिति। अत्र च भगवान् गतित्वेन प्रार्थ्यते अस्त्विति क्रियाध्याहारेण। तत्र गतिशब्दः फले रूढः, 'सा काष्ठा सा परा गतिः' 'अन्ते या मतिः सा गतिः' 'नान्या भवेद्गतिररिन्दमे'ति श्रुतिपुराणादौ तथाप्रसिद्धेः। समाप्तौ तु 'तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण' इत्याश्रयत्वं पाठफलत्वेनोक्तम्। आश्रयशब्दश्च सहाये रूढः, 'सिद्धाखिलार्था मधुसूदनाश्रयाः' 'भवद्भिरमृतं प्राप्तं नारायणभुजाश्रयै' रित्यादौ तथाप्रसिद्धेः। कृष्णशब्दश्च परब्रह्मवाचकः 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते' इतितापनीयश्रुतेः, 'पापकर्षणो ह वै'ति च। ब्रह्मवैवर्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे श्रीरुक्मिण्युद्वाहोत्तरं श्रीयशोदां प्रति भगवद्वाक्येपि 'कृषिरुत्कृष्टवचनो णश्च सद्भक्तिवाचकः। अश्चापि दातृवचनस्तेन कृष्णं विदुर्बुधाः' 'कृषिश्च परमानन्दे णश्च तद्दास्यकर्मणि। तयोर्दाता च यो देवस्तेन कृष्णः प्रकीर्तितः' 'कोटिजन्मार्जिते पापे कृषिः क्लेशे च वर्तते। भक्तानां णश्च निर्वाणे तेन कृष्णः प्रकीर्तितः' इति त्रिधा निरुक्तः। तत्र तृतीयेन 'पापकर्षण' इतितापनीयश्रुतिरुपबृंहिता। गौतमीयतन्त्रे अष्टादशार्णव्यासंज्ञायां च 'कृषिशब्दश्च सत्तार्थो णश्चानन्दस्वरूपकः। सुखरूपो भवेदात्मा भावानन्दमयस्ततः' इति।

सदानन्दयोरन्तर्धिवं निवेश्य सच्चिदानन्दतया परब्रह्मत्वेन कृष्णत्वं चिंतामिति भेदाः । अन्या अपि निरुक्तयो ब्रह्मवैवर्ते नामकरणप्रसङ्गे गर्गेणोक्ताः पञ्च सन्ति तास्ततो ज्ञातव्याः । आनन्दे च निरवधित्वमेव परमफलतावच्छेदकमित्यानन्दमयाधिकरणे स्थितम् । 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य' इति छन्दोगश्रुते- 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति तैत्तिरीयश्रुतेश्च । फलं द्विविधं, साध्यमभिव्यङ्ग्यं च । तत्राद्यं यथा परव्योम्नि श्रद्धा । द्वितीयं यथा योगादात्मसुखम् । तत्र परे ब्रह्मण्याश्रयरूपत्वस्याभावा- द्वितीयरूपतैव वाच्या । तत्र हेत्वपेक्षायां 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति श्रुत्या स्वीयत्वेन वरणे यत्साक्षाद्दर्शनं तदेव हेतुः । तथा सति 'नायमात्मा प्रवचनेने'त्यादिपूर्वार्द्धे उपलक्ष- णविधया साधनान्तरनिषेधश्रावणेन वरणद्वारकं स्वस्यैव साधनत्वमुक्तं भवति । तदेव च ब्रह्मवैवर्तोपबृंहणेष्वपि सिद्धम् । तदेतत् सर्वं हृदि कृत्वा मूढानां सन्देहनिवारणायाद्यष्ट- श्लोकेऽनुरुद्धयमार्गाणां कालादीनां सन्निधत्याराद्योपकारकाणामसाधकत्वं दोषांश्च वदन्त उक्तरीत्या स्वस्मिन् फलरूपत्वमतिरोभावयित्वा तत्र साधनरूपोऽस्त्विति प्रार्थयन्ति—

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।
पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

सर्वे च ते मार्गाश्च । 'मृजूष् शुद्धौ' मृज्यन्ते शोध्यन्त इति । 'मृग अन्वेषणे' मृग्यन्ते तत्तत्फलार्थिभिरन्विष्यन्त इति मृगाः, स्वार्थेऽण् त एव मार्गाः 'योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया । ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचि'त्येकादशे भगवतोक्ताः स्वप्राप्त्युपायाः तेषु नष्टेषु अनुशास्तृदौर्लभ्यादिना तिरोहितेषु कृष्णो व्याख्यातरीतिको भगवानेव मम गतिःसाधनफलरूपोऽस्त्विति सम्बन्धः । अत्र 'यस्य च भावेन भावलक्षण'मित्यनेन भावलक्षणा सप्तमी । अनुशास्तृदौर्लभ्यादौ हेतुः—खलधर्मिणि कलौ लोके पाषण्डप्रचुरे सतीति । चोऽवधारणे । खलोऽन्तर्दुष्टो धर्मो यस्मिन्स खलधर्मा 'धर्मादनिच् केवलादि'त्यनेनानिच् । खलधर्मत्वे हेतुर्लौकानां पाषण्डप्राचुर्यम् । पाषण्ड उपधर्मो जैनत्यादिसदृशस्तस्य प्राचुर्यं बाहुल्यम् । कलावित्यधिकरणे सप्तमी आधारत्वं चात्राभिव्यापकतया कालिकसम्बन्धेन गौणौपश्लेषिकतया वा । तथा चैतादृशे कलावीदृशे लोके सर्वमार्गेषु नष्टेषु सत्सु तथेत्यर्थः । 'षष्ठी चानादरे' इत्यनेनानादरे ऽपि कलाविति सप्तमी । हेतुहेतुमद्भावस्तु समभिव्याहारादेव लभ्यः । तथा चैतादृशे लोके एवं मार्गेषु सत्सु कलिमनादृत्य तद्भयं त्यक्त्वा तथेत्यर्थः । 'कलेर्दोषनिधे राजन्' 'कलिं सभाजयन्त्यार्या' इत्यादिवाक्येषु कलिस्तुतेस्तत्र साधकत्वभ्रमवारणाय कीर्तनस्यापि यथाकथञ्चित्कृतस्य न फलसाधकत्वमितिबोधनाय चात्र कलिलोकयोर्दोषकथनम् ।

'कृष्ण'पदा'रसं'पदाच्च नैतद्वाक्यविरोध इति बोध्यम्। तथाच जलभेदोक्तरीत्या कीर्तयितॄन्निश्चित्य भगवानाश्रयणीय इति भावः । यद्वा, तादृशे लोके मार्गेषु नष्टेषु 'वादवादांस्त्यजेत्तर्कान् पक्षं कंच न संश्रयेदि'तिसप्तमस्कन्धीयनारदवाक्यानुसन्धानेन विवक्षितमार्गस्यैव दृढग्रहणात् कलौ तत्तन्मार्गाणां साधकत्वतरतमभावादिकलहे नष्टे । चकारोत्र तन्नाशसमुच्चायकः । तथा सति तथेत्यर्थः । एवमपि बोध्यम्, प्रथमव्याख्यानरीतौ कलौ सर्वमार्गेषु नष्टेष्विति पदानां, कलावित्यस्यैव वाग्रिमश्लोकपञ्चकेनुपङ्गो बोध्यः । एतद्रीत्या व्याकुर्वन्तः प्राञ्चः सर्वेपि विशेष्यान्वितस्यैवकारस्यान्ययोगव्यवच्छेदकतयांशकलावतारव्यवच्छेदं तेनाहुः, तदस्माकमप्यभिप्रेतम् । श्रीरघुनाथास्तु 'खरधर्मिणी'ति पाठान्तरमप्युपन्यस्य खरश्चासौ धर्मश्चेति कर्मधारयान्मत्वर्थीयेन्प्रत्ययं बहुव्रीहिविग्रहे 'क'प्रत्ययापत्तिभियाहुः, चकारं च कलिव्यतिरिक्तकालसमुच्चायकमाहुः, मायातरणे प्रपत्त्यतिरिक्तसाधनाभावस्य सर्वकालेषु तौल्यादिति तेषामाशयः । मार्थना तु सर्वमतेप्यन्यार्था ॥ १ ॥

एवं कालदोषेण सङ्गदोषं मार्गनाशं चोपपाद्य कालस्य साधारणत्वेन देशानामसाधारणत्वेन तदपेक्षयान्तरङ्गत्वात्तत्र च 'काश्यादिपुर्यो यदि सन्ति लोके तासां तु मध्ये मधुरैव धन्या । या जन्ममौञ्जीव्रतमृत्युदाहैर्नृणां चतुर्धा विदधाति मुक्तिमि'त्यादिभिर्देशस्तावकवाक्यैः साक्षात्साधकत्वस्य 'देशान् पुण्यानाश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितानि'त्यादिभिर्वाक्यैर्मार्गानुकूलतायाश्च प्रतीतेः प्राप्तं तथात्वभ्रमं वारयितुं कालेन देशदोषादिकं वदन्त आहुः—म्लेच्छेत्यादि ।

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

अत्रापि भावलक्षणा सप्तमी । चोवधारणे । कलावित्यनुषज्यते । देशेषु म्लेच्छैर्यवनैः उपलक्षणमेतत् अतितामसैरिति यावत्, तैराक्रान्तेषु व्याप्तेषु । व्याप्तिरत्र तदाज्ञानुरूपस्थितिकत्वम् । तदाज्ञानुरूपस्थितौ को दोष इत्यत आहुः पापेत्यादि । 'एके मुख्यान्यकेवलाः' तत्पुरुषगर्भः कर्मधारयः । पापानां व्यभिचारचौर्यदौर्जन्यादीनामेकनिलयेषु मुख्यस्थानेषु । ते हि लुब्धाः कामिनो हिंस्राश्च, ततस्तत्र व्यभिचारादिकं कुर्वन्ति चौर्यादिकं कारयन्ति च । तद्वलोकलोका अपि पैशुन्यशाम्भलयादिना तथा विदधतीत्येष दोष इत्यर्थः । ननु न सर्वे तादृशा इति नैष दोष इत्यतो दोषान्तरमाहुः—सत्पीडेत्यादि । सतां स्वधर्मवर्तिनां पीडया मिथ्याभिशापदण्डादिरूपक्लेशेन व्यग्रा उद्विग्ना लोकाः सम्यञ्चो जना येष्विति । एवं च कलिकृतास्तेषु चत्वारो दोषा उक्ताः ।

तापसप्रभुकत्वम्, पापबाहुल्यम्, सत्पीडा, सदुद्वेगश्चेत्येतैरुपद्रवेण सम्यक्कर्तुमशक्यता, सर्व-मार्गेषु नष्टेषु सत्सु कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ २ ॥

एवं कालेन देशदोषादिकमुपपाद्य तेषां बाह्यत्वेन जलस्य चान्तःप्रवेशबहिःसम्बन्धाभ्यां शोधकतया देशापेक्षयाप्यन्तरङ्गत्वात्तत्र च 'सद्यः पुनाति गाङ्गेयं दर्शनादेव नार्मदम्' 'कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी । ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वर' 'प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेऽमलाशयाः' इत्यादिवाक्यैः साधकत्वमार्गानुकूलत्वप्रतीतेस्तेषु तथात्वभ्रमं वारयितुं कालेन तत्रापि दोषं वदन्त आहुः गङ्गादितीर्थवर्येष्विति ।

गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

इह भारतवर्षे गङ्गादीनि यानि तीर्थश्रेष्ठानि तेषु दुष्टैः कर्मणा भावभेदेन च ये दूषितास्तैरेव वेष्टितेषु । अत्रापि भावलक्षणैव सप्तमी । तथाच 'किंचाहं न भुवं यास्ये नरा मय्यामृजन्त्यघम् । मृजामि तदघं कुत्र राजंस्तत्र विचिन्त्यताम्' इतिनवमस्कन्धे भगीरथं प्रति गङ्गावाक्याद्दुष्टावरणेन तेष्वपि शक्तिकौण्ठ्यदोष इत्यर्थः । ननु 'साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः । हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात्तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिरि'ति तत्रैव गङ्गां प्रति भगीरथवाक्यात्तादृशां सङ्गादिना तन्निवृत्तेस्तस्य प्रायिकत्वान्नायं दोष इत्यत आहुः तिरोहिताधिदैवेष्विति । देवानां समूहो दैवम्, दैवे इत्यधिदैवं, देव-समूहे विद्यमानं गङ्गादेर्दैवतारूपम्, तिरोहितं अधिदैवं यस्मिंस्तत्तिरोहिताधिदैवम् । तथाच देवसंसदि विद्यमानं यद्गङ्गादेराधिदैविकं रूपं तत्तिरोधानाच्छक्तिकौण्ठ्यतादवस्थ्यमित्यर्थः । यद्वा, तिरोहित आधिर्यस्य तत्तिरोहिताधि, तादृशं दैवं देवसमूहो येष्विति । 'तत्तेषां न प्रियं यन्मनुष्या विदुरि'ति 'विघ्नस्य वै संन्यसतो देवा दारादिरूपिणः । विघ्नं कुर्वन्त्ययं ह्यस्मानाक्रम्य समियात्परमि'ति श्रुतिस्मृत्युक्तदिशा मनुष्यमुक्तिस्तेषां न प्रियेति तन्निवृत्त्यर्थं वाराहपाद्मादौ मुक्त्यभावाय भगवत्प्रार्थनावदत्र तीर्थान् दुष्टेष्वाविश्य प्रतिबध्नन्तस्तिरोहिताधयो भवन्त्यतः शक्तिसद्भावेऽपि दोषतादवस्थ्यम्, कृष्ण एवेति पूर्ववदित्यर्थः । एतेन 'तीर्थादावपि या मुक्तिः कदाचित्कस्यचिद् भवेत् । कृष्णप्रसादयुक्तस्य नान्यस्येति विनिश्चय' इतिनिबन्धोक्तौ युक्तिरपि प्रत्यक्षानुरूपा दर्शिता ॥ ३ ॥

अतः परं 'न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः । ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः' इतिवाक्यात्तदपेक्षयान्तरङ्गत्वेन तेषां च सङ्गस्य 'प्रसङ्गमजरं पाशमात्म-

कवयो विदुः । स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम्' 'सतां प्रसङ्गात्' 'सन्त एतस्य छिन्दन्ति' 'सत्सङ्गेन हि दैतेया' इत्यादिवाक्यैः साधकत्वमार्गानुकूलत्वप्रतीतेस्तत्र तथात्वभ्रमं वारयितुं कालकृतं सत्सु दोषं वदन्त आहुः अहङ्कारेत्यादि ।

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।
लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अत्र'र्हाणां कर्तृत्व'इत्यनेन तद्वैपरीत्ये सप्तमी । कलौ सत्सु मार्गप्रचारकेषु पुरुषेष्वहङ्कारेण स्वपाण्डित्याभिमानेन विशेषतो मूढेषु सत्सु । तथात्वे गमकद्वयमाहुः पापेत्यादि । पापाः पापकर्तारो राजसास्तामसाश्च म्लेच्छादयस्तदनुवर्तिषु तदुपजीविकेषु । अक्रूरादेः कंसाद्यनुवृत्तिवदनुवर्तित्वेप्यदोष इति तद्व्यावृत्त्यर्थं विशेषणान्तरं लाभेत्यादि । लाभो द्रव्यादेः, पूजा उन्नतिः, अर्थशब्दो द्वन्द्वान्ते श्रुतः प्रत्येकं सम्बध्यते, तेन तदर्थं यत्नो बाह्याभ्यन्तर उद्यमो येषामिति । एतद्द्वयं विमूढत्वज्ञापकम् । तथाच मार्गप्रचारकेष्वेतादृशेषु जातेषु सतामभावात्सङ्गो दुरापास्त इति सर्वमार्गेषु नष्टेषु कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ४ ॥

अतः परं सतां दुर्मिलतया तदपेक्षया मन्त्रसाधनजपादेः स्वमात्रसाध्यतयान्तरङ्गत्वात्तत्र च 'परिहाप्यापि वेदांस्त्रीन् कर्माणि विहितानि च । गायत्रीमात्रमाश्रित्य द्विजो भवति निर्भयः' 'गायत्रीहीनवेदास्तु साङ्गा अपि च निष्फलाः' 'सर्वेषु वर्णेषु तथाश्रमेषु नारीषु नानाह्वयजन्मभेषु । दाता फलानामभिवाञ्छितानां द्रागेव गोपालकमन्त्र एष' इत्यादिवाक्यैस्तत्तन्मन्त्राणां तथात्वप्रतीतेस्तेषु तथात्वभ्रमं वारयितुं तत्रापि कालेन दोषं वदन्त आहुः—अपरीत्यादि ।

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।
तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

अपरिज्ञाननष्टेष्विति । अत्रापि पूर्ववदनुषङ्गो भावलक्षणा सप्तमी च । 'मन्त्रस्य च परिज्ञानमि'त्येकादशे भगवद्वाक्यात्परिज्ञानेन मन्त्रशुद्धिः । परिज्ञानं नाम गुरूपसत्त्यादिना ध्यानन्यासपाठार्थतात्पर्यविनियोगादीनां निर्धारस्तदभावोऽपरिज्ञानं, तेन नष्टेषु । स्वरूपस्य श्रावणत्वेपि शुद्ध्यभावेन 'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमि'तिवददृश्यमानेषु । क्वचित्कस्यचित्परिज्ञानदर्शनाद्दोषान्तरमाहुः—अव्रतयोगिष्विति । 'अव्रता वट्वोऽशौचा' इतिद्वादशस्कन्धे कलिधर्मेषूक्तेर्मन्त्रोपाकरणदशायामेव गुरुकुलावासब्रह्मचर्याध्ययनधर्मपरिपालनाभावादव्रतेषु योगः सम्बन्धो येषां तादृशेषु । तेन दोषान्तरमप्याहुः तिरो-

हितार्थदेवेष्विति । तिरोहिताव्यभतीधपानौ अर्थः प्रयोजनं तात्पर्यं च देवोऽधिष्ठात्री देवता तौ येषाम् । 'य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानी'त्यादिश्रुतिप्रभृत्युक्तनिदर्शनव्यभिचारेण तदुभयतिरोभावस्य स्फुटत्वान्न तेषामिदानीं साधकत्वं न वा मार्गानुकूलत्वमतः कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ५ ॥

अतः परं मन्त्रापेक्षयापि स्वधर्माणां व्रतानामाचारस्य च पूर्वोक्तदोषाभावेन सुकरत्वेन चान्तरङ्गत्वात्तत्र च 'स्वधर्मस्थो यजन्यज्ञैरनाशीः काम उद्धव । न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत्' 'इह लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः । ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं च यदृच्छये'त्येकादशस्कन्धीयैः 'केदारे उदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते' 'तथा चैकादशी ह्येका गर्भवासक्षयङ्करी । एकादशीसमं पुण्यं न भूतं न भविष्यती'त्यादिभिः पुराणान्तरीयैर्भगवद्वाक्यै'राचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युत' इत्यादिभिर्भारतीयैश्च वाक्यैर्धर्मव्रतादीनां साधकत्वादिप्रतीतेस्तेषु तथात्वभ्रमं वारयितुं तेष्वपि कालेन दोषं वदन्त आहुः नानेत्यादि ।

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।
पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

नानाप्रकारका ये वादाः स्वरूपफलादिविषयकास्तैर्विशेषेण स्वरूपेण फलादिना च नष्टेषु तिरोहितेषु । तत्र स्वरूपतो नाशो वेदबाह्यानां वादात् । 'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्' 'अग्निहोत्रं त्रयीतन्त्रं त्रिदण्डं भस्मपुण्ड्रकम् । प्रज्ञापौरुषनिःस्वानां जीवो जल्पति जीविका' इत्यादिरूपात् । फलतो नाशस्तु यथैकादशीव्रतादौ 'शुक्रेण मोहिता विप्रा दैत्यानां कारणे भुवि । तुष्ट्यर्थं दशमीविद्धं कुर्वन्ति मम वासरमि'ति माघे 'पुरा देवैर्ऋषिगणैः स्वपदच्युतिशङ्कया । सप्तमीवेधजालेन गोपितं चाष्टमीव्रत'मिति स्कान्देऽन्यत्र च निषेधनिन्दादेर्वेधस्वरूपनिर्णयस्य च विद्यमानत्वेपि तदनादृत्य स्वस्वाग्रहेण वाक्याभासान्न्यायाभासांश्च समुदाहृत्य निर्णयन्ति, तादृशस्थले बोध्यः । स्वधर्माचारयोरपि विप्रतिपत्त्या फलतो नाशो बोध्यः । वादे प्रयोजकमाहुः पाषण्डेति पाषण्डेन दम्भेन एकोऽन्यः प्रयत्न उद्यमो येषामिति । ■ च 'वेश्यावेश्मसु सीधुगन्धिललनावक्त्रासवामोदितैर्नीत्वा निर्भरमन्मथोत्सवरसैरुन्निद्रचन्द्रक्षपाः । सर्वज्ञा इति दीक्षिता इति चिरात्प्राप्ताग्निहोत्रा इति ब्रह्मज्ञा इति तापसा इति दिवा धूर्तैर्जगद्वञ्च्यते' इतिवद्बोध्यः । अत एवं भूयोदर्शनात्स्वधर्मव्रतादीनामपि न स्वतः साधकत्वं न मार्गानुकूलत्वमतः कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ६ ॥

एवं षड्भिर्भक्त्यादिमार्गाणां दुःसाध्यताज्ञापनाय कालकृतसर्वसन्मार्गनाशबोधनमुखेनाश्रयणस्योपायत्वं साधितम्, तदिदं तदा दृढीभवति यदा भगवानाश्रिते स्वमाहात्म्यमनुभावयति तदर्थमाहुः अजामिलादीति ।

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।
ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अजामिलादीति। अजामिलः षष्ठस्कन्धे प्रसिद्धो दासीपतिर्ब्रह्मबन्धुः । आदिपदेन गजेन्द्राहल्याद्या, नृसिंहपुराणे नवमाध्याये मार्कण्डेयमृत्युप्रसङ्गे उक्ता नारकिणश्च, तेषां ये दोषा इहजन्मनि पूर्वजन्मनि च कृतानि पापानि तेषां नाशकः । एतेन तादृशमाहात्म्ये तदनुभावने च शब्दः प्रमाणमुक्तम् । प्रत्यक्षमाहुः अनुभव इत्यादि । अनुभवेऽस्माकं स्थितो विषयीभूतो ज्ञापितसमग्रमाहात्म्यः, एतेन प्रपन्नस्य मायातरणे सति प्रतिबन्धकाभावात्स्वयमेवाग्रे माहात्म्यं गोचरीभवतीति ज्ञापितम् । ततश्च पूर्वमार्गे शब्दे श्रीमदाचार्यचरणोक्तौ वोभयत्र वा विश्वस्य भगवदाश्रयणे भगवानेव साधनान्तरापेक्षां विना सर्वं ज्ञापयंस्तद्गोचरो भवतीति सूचितम् । कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ७ ॥

एवमत्र शब्दप्रत्यक्षाभ्यां पूर्वोक्तश्रुतिब्रह्मवैवर्तादिरीत्या भगवानेव पुष्टिमार्गीयाणां साधनमिति साधितमतः परं पूर्वोक्तश्रुतिगौतमीयतन्त्रोक्तरीतिकं भगवतः फलत्वं साधयन्ति प्राकृता इत्यादि ।

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।
पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

देवा–अष्टौ वसव, एकादश रुद्रा, द्वादशादित्या, इन्द्रः, प्रजापतिश्चेति त्रयस्त्रिंशत् 'अग्निरवमो देवानां विष्णुःपरमस्तदन्तरेणान्या देवता'इत्यग्न्यादयो विष्णवन्ताः। अत्र [illegible]ष्णुः कालः, 'स विष्ण्वाख्योधियज्ञोसौ कालः कलयतां वर' इतिवाक्यात्तदन्ता वा । [illegible]ारं ब्रह्माणं नाभावुकारं विष्णुं हृदये मकारं रुद्रं भ्रूमध्य इति प्रणवमात्राधिष्ठातारो [illegible]ादयो वा प्रजापत्यन्ताः, शतानन्दिनो वा । ते सकलाः कला अंशास्तत्सहिताः, सर्वे [illegible]कृताः, प्रकृतिर्माया 'मायां तु प्रकृतिं विद्यादि'तिश्रुतेस्तदधीनाः । कालस्य क्षोभ[illegible]या गुणानुरोधित्वेन गुणाधिष्ठातॄणामभिमानित्वेन च प्राकृतत्वम् । बृहदक्षरं गणिता[illegible]न्दकं, गणितः 'स एको मानुष आनन्द' इत्यारभ्य शतानन्दिनां गणने 'स एको [illegible]ण आनन्द' इत्युत्तरावधौ ब्रह्म गणितम्, अत एवंसङ्ख्यात आनन्दो यत्र, स्वार्थे [illegible]ताद्दशम् । तेन तुरीयकोटिनिविष्टा ओंकारं सर्वेश्वरं द्वादशान्त इत्याद्युक्ता गुणावतारा [illegible]पि तत्रैव प्रविशन्तीतिबोधितम् । हरिः पुरुषोत्तमोऽ'क्षरात्परतः परः' स उत्तमः पुरुषः ।

'अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम' इत्यादिश्रुतिस्मृतिप्रतिपाद्यः । पूर्णानन्दः शतानन्दसङ्ख्याने ब्रह्मानन्दस्य सर्वपरत्वेन गणनया मनोवागगोचरतामेव प्रतिपाद्य तदुत्तरानुवाके 'यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चने'तीतिश्रुतावानन्दस्य मनोवागगोचरत्वकथनेन तदपेक्षयाधिक्यस्यानवधित्वस्य च बोधनात्तथा । तस्मादानन्दे निरवधित्वस्यैव परमफलतावच्छेदकत्वेन तस्य चात्रैव विश्रान्तेः कृष्णः पूर्वोक्तरीतिकः मम परमफलरूपोस्त्विति पूर्ववत् ॥ ८ ॥

एवमष्टभिर्भगवत्स्वरूपविचारेणाश्रय एव सर्वथा साधको न त्वन्यः कोपि मार्गः साधक इति साधितम् । अतः परमाश्रयस्यापि साङ्गस्यैव साधकता विवेकधैर्याश्रये सिद्धेति तदङ्गाभावेऽपि यथा स फलं साधयति तमुपायं वदन्त आहुः विवेकेत्यादि ।

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

सर्वदुःखहर्ता भगवान् स्वेच्छातः सर्वं करिष्यतीत्येवद्विचारपूर्वकमनुसन्धानं विवेकः । सात्त्विकादीनां कायिकादीनां भौतिकादीनां त्रिविधदुःखानां प्रतीकारानाचरणेनोपेक्षणं धैर्यम् । माहात्म्यज्ञानपूर्वकः सुदृढः स्नेहो भक्तिर्नवविधा च । आदिपदेन तदङ्गानि । साङ्गे ज्ञानकर्मणी च । तै रहितस्यैतेन यावत्साधनराहित्यं सूचितम् । बाधकसत्तामाहुः विशेषतः पापासक्तस्येति । आसक्तिः सङ्गातिशयोपरिहार्यः सङ्ग इति यावत् । एतावता 'नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायत' इतिवाक्यस्मारणाद्भक्त्युत्पत्तौ प्रतिबन्धकमपि सूचितम् । एवं बाधकद्वयसद्भावेऽपि येनाङ्गेनाश्रयस्य सिद्धिस्तदाहुः दीनस्येति । एवं साधकाभावबाधकसद्भावाभ्यां जातया ग्लान्या दीनस्य । दौर्गत्यादेरनोजस्त्वं दैन्यम् । अनोजस एतादृशस्य कृष्ण एवेति पूर्ववत् । एवंप्रकारिकाया ग्लानेः सतां दुरापत्वात् सतां मायादिकानां ग्लानौ साधनान्तरेषु प्रवृत्तेरत्र तु तादृशग्लानि प्रपत्तिभ्यां तदुभयविलक्षणतया 'सोऽहं तवाङ्घ्री'त्यत्रोक्तानुग्रहस्य स्वस्मिन्कारणत्वेन स ज्ञाप्यते । एतादृशस्यापि फलसिद्धिर्गीतायां 'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य' 'अपि चेत्सुदुराचार'इत्यत्र भगवताज्ञप्ता । ननु पूर्ववाक्ये पापयोनीनां गतिरुक्ता न तु पापकर्मणाम् द्वितीये चानन्यभजनेन पापकर्मणां साधुत्वमुक्तं, न त्वाश्रयेणेति नैतद्वयपाश्रयेण सिद्धेः कमिति शङ्क्यं, 'सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च यो वदेत् । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददात्येतद्व्रतं हरेरि'तिगारुडात्, 'सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च यो वदेत् । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं ममे'तिपुराणान्तरीयभगवद्वाक्याच्च भगवतस्तादृशे व्रते निश्चिते ततो भगवदनुग्रहेणैव तत्र प्रवृत्तावपि माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहस्यैव द्वारत्वनिश्चयादनन्य

भक्त्वसिद्ध्या, द्वितीयस्या 'नित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व मामि'ति भजनशेषतया निरूपितत्वेन प्रथमस्य चाङ्गस्यात्। अतो नात्र कोऽपि चोद्यावसरः ॥ ९ ॥

एवं नवभिर्विवेकधैर्याश्रयग्रन्थोक्ताङ्गाभावेप्येतदुक्तरीतिकदैन्येनाप्याश्रयसिद्धिरिति बोधितम्। अतःपरमेतस्याप्यङ्गस्याभावे द्वाभ्यां साधनान्तरमाहुः सर्वसामर्थ्येत्यादि।

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत्।
शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयत' इत्यादिश्रुतिभिः कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं च यावन्ति सामर्थ्यानि तत्सहितस्तदुपपादित'मजामिलादी'तिपद्येन । 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' 'एष ह्येवानन्दयाती'त्यादिश्रुतिभिः सर्वत्र देशेषु जीवेषु चाखिलार्थानां कृत् 'आकेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिष्वि'त्यनेन ताच्छील्ये क्विप् कर्ता। एतादृशं कृष्णमहं जगदुद्धारार्थमाज्ञप्तो वैश्वानर आचार्यवर्यः शरणस्थानां शरणमार्गवर्तिनां समुद्धारं सम्यक् आज्ञप्तमार्गमाप्यपरमफलपर्यंतमुद्धारं विज्ञापयामि। सामानाधिकरण्यादध्याहारानाक्रमाच्च प्रथमान्तद्वयमहंपदस्यैव विशेषणं वा। तथाच तादृशदैन्याभावेपि मयि विश्वासेनैतच्छरणमार्गस्थितौ श्रीमदाचार्यचरणकृपयैवास्माकमुद्धार इति निश्चयदार्ढ्येपि तत्कृतं साधनान्तरमनपेक्ष्य मद्विज्ञापनादेवोद्धरिष्यतीत्यर्थः ॥ १० ॥

अतः परमेतन्निश्चयदार्ढ्यगमकं वदन्तो विज्ञापनप्रकारं स्वरूपं चाहुः कृष्णाश्रयमित्यादि।

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ।
तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

कृष्ण आश्रीयतेनेनेति, कृष्ण आश्रयो विषयो यस्येति वा कृष्णाश्रयम्। आश्रयपदस्य विषयवाचकत्वं प्रल्हादचरित्रे 'यत्तत्र गुरुणा प्रोक्तं शुश्रुवेनुपपाठ च। न साधु मनसा मेने स्वपरासद्ग्रहाश्रयमि'ति सप्तमेऽन्यत्र च प्रसिद्धम्। एतदन्वर्थनामकमिदमुक्तं स्तोत्रं यः कृष्णसन्निधौ भगवन्निकटे पठेत् तस्य कृष्ण आश्रयः सहायो भवेत्। इतीममर्थं श्रीवल्लभोऽब्रवीदुक्तवानिति। तथाचैतमेतत्पाठ एव पूर्वोक्तनिश्चयदार्ढ्यगमक इत्यर्थः। एवं च विवेकधैर्याश्रयोक्तरीतिकविवेकादेरभावे दैन्यपूर्वकमेवैतत्स्तोत्रानुसन्धानपूर्वकं भगवत्सन्निधावेतत्स्तोत्रपाठः। तत्राप्यनधिकारे श्रीमदाचार्यचरणविश्वासपूर्वकं भगवत्सन्निधौ पाठ इति साधनद्वयं मानसवाचनिक–केवलवाचनिक–शरणार्थतुरूपं निर्दिष्टम् ॥ ११ ॥

इदं प्राचां रीतिमनुसृत्य व्याख्यातं, मम त्वन्योऽप्यर्थः स्तोत्रस्य प्रतिभाति । तथाहि—अयं मार्गोऽविहितभक्तिरूपः, अत्र भगवान् रसात्मकः प्रतिपन्नः । एवं सति तदधिकारिष्वेव मन्दमध्यमविचारेणात्र साधनोपदेशो वक्तव्यः । अत एव विवेक-धैर्याश्रयसमाप्तौ 'भक्त्यादिमार्गा' इत्युक्तम् । अन्यथैकादशे 'योगास्त्रयो मये' त्यत्र 'ज्ञानं कर्म च भक्तिश्चे'ति त्रितयान्ते निवेशिताया भक्तेरादित्वकथनं विरुद्धं स्यात् । अतोऽत्र भक्तिपदेन तत्परामर्शः किं'त्वथैतत्परमं गुह्यमि' त्यत्रोक्तायाः । तथासति सा भक्तिरादिर्येषां तादृशा ये मार्गा अविहितभक्तेरेव प्रकारभेदा बालादिभावेन भजनरूपास्ते यतो दुःसाध्या इत्यर्थो भवति । एवं सति तत्र तत्रानधिकारे विवेकधैर्याश्रयोक्तरीतिक आश्रयः, अत एव 'स्वाम्यभिप्रायसंशयात्' 'गोपभार्यवत्' इति स्वामिपदं तद्दृष्टान्तश्च सङ्गतौ भवतः । अतः परं तत्राप्यनधिकार इदं स्तोत्रपठनमपि तस्यैवानुकल्परूपम् । एतन्मार्गप्रविष्टाना-मतिजघन्यतमाधिकारिणामेतन्मार्गफलसम्बन्धो यथा प्रणाड्या भवति तामनुसन्धायास्यो-क्तत्वात् । तदर्थं स्वस्वरूपं भगवत्स्वरूपं च वक्तव्यम् । तत्र भगवत्स्वरूपं तूक्तमेव । किञ्चाभेदवादानुरोधेन रसस्वरूपविचारे रसालम्बनद्वयाभिन्नरसात्मा स्वयं भवति । उपबृंहितं चेदं ब्रह्मवैवर्तीयश्रीकृष्णजन्मखण्डे गर्गवाक्येषु-'वर्धते सा व्रजे राधा शुक्ले चन्द्रकला यथा । श्रीकृष्णतेजसोऽर्धेन सा च मूर्तिमती सती' 'एका मूर्तिर्द्विधा भूता भेदो वेदे निरूपितः । इयं स्त्री स पुमान् किं वा सा वा कान्ता पुमानयमि'ति । 'पिताहमस्य जगतो माते'ति गीतायां च । तथासत्याचार्याणामपि 'वैश्वानराद्वाक्पतेः' 'वस्तुतः कृष्ण एवे'ति च वाक्यद्वयविचारे पूर्वोक्तरीत्योभयमुखारविन्दात्मकत्वमुभयात्मकत्वं [illegible] सिद्ध्यति । किञ्च, सप्तश्लोक्यां सर्वोत्तमे च 'श्रीभागवतप्रतिपदे'त्यादि 'तत्सारभू[illegible] रासस्त्रीभावपूरितविग्रह' इति चोक्तम् । एवं स्वरूपे निश्चिते यदा यद्भावेन यान् प्रति य[illegible] वदन्ति तदा तदधिकारिणः प्रति तानि साधनानीति पुंस्तोत्रमप्येवं व्याख्यायते तद[illegible] न दोषः । तथासत्यस्यार्थस्य गुप्ततया भगवतः परोक्षप्रियत्वेन चात्र परोक्षवादाल्लक्षण[illegible]प्यदुष्टैव । ततश्चायमर्थः । तथाहि सर्वमार्गेषु सख्यादिप्रोक्तेषु भगवत्प्राप्त्युपायेषु न[illegible] तत्प्रापकतया स्वान्तःकरणेऽनुपायतया भातेषु । खलोन्तर्दुष्ट ईर्ष्यारूपो धर्मो यस्मिँस्ता[illegible] कलौ कलहे स्वसमानेषु स्वस्मिन् कृपातिशयख्यातिविषयके नष्टे हृदयादपयाते । च[illegible]रेण कलहादेरपि नष्टत्वं ज्ञाप्यते । पाषण्डः कलहजननकारणरूपो धर्मः प्रचुरो यस्मिन्[illegible] दृशो लोके सख्यादौ चादृश्यमाने । विरहेण तेषु दोषारोप'स्तस्याधमस्यान्तिकमि'त्या[illegible] वत्, अतो न दोषः । एवं सति दुःखितस्य मम कृष्णः सदानन्दस्त्वादृशतापे हृदि वि[illegible]स्यमान एव गतिर्बहिःप्राप्तौ साधनरूपो भवत्वित्यध्याहृता प्रार्थना । अत्रैवं सर्वसा[illegible]

१ अतः परं श्रीव्रजराजपादाः प्रमेयमनुसृत्य विवृण्वन्ति स्तोत्रमिदम् ।

वैफल्यबोधनेन स्वस्यातिखेदः । एवकारेण तादृशसमये 'रूरुदुः सुस्वरं राजन्नि'त्यत्र फलप्रकरण इव भगवतः प्राकट्यावश्यकत्वं च द्योत्यते । एवमग्रेपि बोध्यम् ॥ १ ॥

अतः परं भगवन्मिलनस्थानभूतानां देशानामप्यनुपायत्वमाहुः—म्लेच्छाक्रान्तेत्यादि । म्लाना रसमार्गविरोधिनीच्छा येषां ते म्लेच्छा एतद्रसानभिज्ञास्तैर्देशेषु वृन्दावनादिष्वाक्रान्तेषु । किञ्च, पापैकनिलयेषु । पातीति पः स्थायिभावः सः अपः अक्षरको यत्रासौ पापो विरहः सन्तापातिशयजनकत्वात्, तदेकनलियेषु 'सोयं वसन्तसमयो विपिनं तदेतत् सोयं निकुञ्जविटपी निखिलं तदास्ते । हा हन्त हन्त नवनीरदकोमलाङ्गो नालोकि पुष्पधनुषः प्रथमावतार' इतिवत्तदुद्बोधकत्वेन तदेकस्थानेषु । चोवधारणे । तेन पूर्वमतथात्वमनभिज्ञसम्बन्धेन तथात्वमिति ज्ञाप्यते । किञ्च, सतः शरीरस्य या पीडा तया व्यग्रा लोकाः स्वीयैकान्तभक्ता येषु । एतादृशेऽवसरे कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ २ ॥

अतः पर तादृशां तीर्थानामप्यसाधकत्वमाहुः—गङ्गेत्यादि । इह वृन्दावनादिदेशे गङ्गा 'सितासिते सरिते यत्र सङ्गते' इति श्रुतौ तस्याः पूर्वं पठितत्वात्सादिर्यस्याः सा गङ्गादिः, यमुनातत्प्रभृतीनि तीर्थवर्याणि घट्टविशेषाश्चन्द्रसरोवरश्रीकुण्डाद्या, 'नद्यस्तदे'त्यत्रोक्ता नद्यश्च, तेषु दुष्टैरेतद्भावराहित्येन दुष्टैरेवावृतेषु व्याप्तेषु । किञ्च, तिरोहिताधिदैवेषु । तिरोहितमगोचरमधि उपरि दैवं 'दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यमि'ति कोशाद्स्मद्भाग्यं, 'त्रैलोकलक्ष्म्येकपदं वपुर्दध'द्यत्र । यदुपरि भगवानिदानीं न दृश्यते चिह्नानि सन्तीति 'श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मर्तुं नैव शक्नुम' इतिवदधिकतापजनकेष्वेवेति भावः । तथाचैतादृग्वावस्थायां कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ३ ॥

अतः परं सत्सङ्गस्याप्यसाधकत्वमाहुः—अहङ्कारेत्यादि । निन्दायां सर्वत्र ताधिक्यमेव बीजं नतु तेषु दोषो बीजम् । अहङ्कारेणास्मद्वशो भगवानस्मत्प्रार्थितमन्यत्र फलिष्यतीत्येवंरूपेण विमूढेषु स्तब्धेषु । किञ्च, पापानुवर्तिषु पापः पूर्वोक्तसंज्ञितको विरहस्तमनु लक्षीकृत्य वर्तन्त इति तथा । तथाच पूर्वं यद्वश इदानीं तैरपि सह मिलतीति । तद्गमकं लाभपूजार्थयत्नेषु । लाभो भगवत्प्राप्तिस्तदर्था पूजा लाभपूजा तदर्थं यत्न उद्यमो येषाम् । पूर्वं भगवत्प्राप्तये कात्यायन्यर्चिता पुनरिदानीमपि यत्क्रियते तेन ज्ञाप्यते न मिलतीति । लीलानां नित्यत्वाचापेनासंचितभ्रमवचदाचिर्भावात्तेष्यमिलननिश्चयः । सत्सु एतन्मार्गगुरुष्वेतादृशेषु सत्सु किं तत्सङ्गेनेति कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ४ ॥

अतः परं ततोप्यतितापेन गुरूणां हार्दं विचारयन्तो मन्त्राणामसाधकत्वमाहुः—अरीति । अः भगवान् तस्य परिज्ञानं स्वभावज्ञानं 'न नन्दसूनु'रितिप्रस्थानसाम-

यिकविलापस्यश्लोकोक्तं, तेन नष्टेष्वसाधकतया वैशतिषु। अत एव अव्रतयोगिषु ज्ञानगोचरत्वेपि जपादिनियमायोगिषु। तत्रापि हेतुः—तिरोहितार्थदेवेषु तिरोहितः अविषयः अर्थोभिधेयो देवोधिष्ठाता च येषां तादृशेषु मन्त्रेषु व्रतचर्यासङ्गिक-मुख्य-महिषीमासङ्गिक-समर्पणादिप्रासङ्गिकेषु सत्सु। कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ५ ॥

अतः परं तत्रोप्यतितापाधिक्येन स्वस्याशक्तिं द्योतयन्तः कर्मादिनाशमाहुः—नानेत्यादि। नानाप्रकारका वादा नानावादाः। भगवान् मथुरायामेवं पुरवनितादीनां कामं वर्धयति, जरासुतादिभिर्युध्यति, द्वारकायामुज्जयिन्यां प्राग्ज्योतिषपुरे इन्द्रप्रस्थादावेवमेवं करोतीत्यादिलोकोक्तिरूपाः, श्रीमदुद्धवानीतसन्देशादितत्संवादादिरूपा वा, तैर्विनष्टेषु अक्रियमाणेषु सर्वेषु गृहादिकर्मभगवद्व्रतादिषु। किञ्च, पाषण्डः कापट्यं, तेनैको मुख्यः प्रयत्नो बहिरुद्यमो येषां यत्सम्बन्धी। तथाच तादृशेष्वेतद्गोपनाय लौकिकवैदिकविहितमार्यादिककर्मभगवद्व्रतादीनामुद्यम एव न तु मनस्तस्तत्कृतिरपीति तादृशेषु तेषु सत्सु, 'धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चने'त्येतादृशावस्थायां कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ६ ॥

एवमतिशयिततापे भगवानन्तःप्रादुरभूदतस्तयावस्थयाहुः—अजामिलादीति। जामि आलस्यं 'जामि वैतद्यज्ञस्य क्रियते यदन्वञ्चौ पुरोडाशावि'त्यादिश्रुतौ तथासिद्धत्वात् 'आत्मा यावत्प्रपन्नोभूदि'त्यत्रेवात्र परोक्षवादे वैदिकप्रयोगस्यादोषाच्च। न जामि अजामि अनालस्यं तेन लान्ति गृह्णत इत्यजामिलाः, आदिपदेन जामिलाश्च, तद्गुणसंविज्ञानः। शैघ्र्येण विलम्बेन च भगवद्विप्रयोजका इति यावत्। तथाच तादृशा दोषा मानादय आज्ञाकरणादयश्च तेषां नाशकः। अनुभवे मानसे साक्षिप्रत्यक्षे स्थितो गोचरीभवन्। ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः ज्ञापितमखिलं समीक्षाभावमधुराद्वारकास्थित्यादि तल्लीलादितात्पर्यविषयकं सर्वं माहात्म्यमुत्कर्षः परोक्षभजविस्मरणातिप्रियत्वरूपो येन तादृशः। कृष्ण एवेति पूर्ववत्। एतेन, योग्यतमानामतादृशताप एव प्रादुर्भाव ईदृशो न त्वन्यथेति। अन्यथा त्वन्यथेत्यपि सूचितम् ॥ ७ ॥

माहात्म्यं यज्ज्ञापितं तन्मध्ये यदत्रोपयुज्यते तत्प्रकटीकुर्वन्त आहुः—प्राकृतेत्यादि। प्रकृते रसमार्गे भवा विद्यमानाः प्राकृताः। सकलाः, कला भगवदनुरञ्जनचातुर्यं तया सह वर्तमानाः। देवा भगवता सह क्रीडापराः। किञ्च, बृहदक्षरं गुहे परमे व्योमन्याविर्भूतं ब्रह्म गणितानन्दकं, गणितः श्रुतौ सङ्ख्यात आनन्दो येषां प्रजापत्यन्तानां यतीनां वा, तेषामेव कं सुखं यस्मादिति तादृशं, न तु स्वस्मिन् रिरंसामात्रेण सकलदेवानां सुखदम्। तथा पूर्णानन्दः कर्मधारयेण बहुव्रीहिणा च

देवानन्दतिरोभावहर्ता कृष्ण एव तस्मान्मम तथेत्यर्थः । तथाचैतन्मार्गीयं फलं केवलपरमानुग्रहैकलभ्यमेवेति सपरिकरभगवन्माहात्म्यं यद्भगवज्ज्ञापितं तत्सूचितम् ॥ ८ ॥

एवमनुग्रहस्य तत्फलस्य स्वकृतसाधनासाध्यत्वेनुसंहिते यावस्था तयाहुः—विवेकेत्यादि । विवेकः साधनतारतम्यानुसन्धानं, धैर्यं दुःखसहनसामर्थ्यं, भक्तिः स्वशरीरसेवा । आदिपदेन तत्तत्साधनानि, तै रहितस्य । विशेषतोत्यन्तं पापेन पूर्वोक्तविरहात्मकेन असक्तस्य मुक्तसमस्तसङ्गस्य, अत एव दीनस्य तत एवानोजसः कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ९ ॥

एवमतितापेन परमदैन्ये भगवान् बहिःप्रादुर्भूतस्तदातिसन्तुष्टा जीवेषु मन्दमध्यमेष्वेवं विलम्बाभावाय विज्ञापयन्ति सर्वेत्यादि । अयोग्येष्वपि योग्यतासम्पादनं कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थस्यैव शक्यमिति तादृशः सन् । तादृशत्वस्य गमकमौदार्यमिति सर्वत्रैवाङ्गीकृतमात्रे अखिलार्थानां पुष्टिपुष्टिमोक्षरूपाणां कृत् ! करणशील ! कृष्ण ! पूर्वोक्तश्रुतिपुराणव्याख्यातरूप ! । श्रीरघुनाथचरणैः कृष्णपदं सम्बुद्ध्यन्तत्वेन व्याख्यातमित्यस्माभिरपि तथोक्तम् । द्वितीयान्तपक्षेपि क्विबन्तमेव । शरणस्थानामेतन्मार्गरीत्या शरणागतानां फलपर्यन्तमुद्धारं अहं भवदनुभावप्रकटनार्थाज्ञयावतीर्णः विज्ञापयामि । एतेन स्वस्य विज्ञापने भगवतश्च तथोद्धार आवश्यकता सूचिता ॥ १० ॥

विज्ञापनां वदन्ति—कृष्णाश्रयमित्यादि । कृष्णाश्रयं स्तोत्रं श्रीरूपः स्वामिनीभावपूरितत्वात् वल्लभो भगवतः प्रिय आचार्यवर्योत्रवीदिति, यः पठेत् एवमनुसन्दधानो योस्मद्विप्रयोगावस्थां ज्ञापयन् कृष्णसन्निधौ व्यक्तं कथयेत्तस्य कृष्ण आश्रयो भवेदिदं विज्ञापनमित्यर्थः । स्तोत्रस्य मत्यक्षत्वेनेदमा विनाप्यर्थसिद्धेरिति, शब्दान्तरानाहाराच्च, अत्र दुरान्वयोप्यदुष्ट एव । 'विमुश्चात्मतनुं घोरामित्युक्तो विससर्ज ह' । विससर्ज तनुं तां वै ज्योत्स्नां कान्तिमतीं प्रियामित्यादौ भाव एव तनुत्वेन व्यवहाराच्च रूपत्वोक्तावपि न दोष इति न कोपि शङ्कालेश इति । यथाधिकारं सर्वा एव टीका उपयुज्यन्त इति न क्वापि शङ्कालेश इति । दिक् ॥ ११ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यप्रकटीकृतमद्भुतम् ।
स्तोत्रं कृष्णाश्रयकरं विवृतं तत्प्रसादतः ॥ १ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणकमलचञ्चरीकश्रीश्यामलात्मजश्रीव्रजराजविरचितं कृष्णाश्रयस्तोत्रविवरणं समाप्तम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

विवरणसमेतम् ।

यत्कृपादृष्टिपीयूषैकबिन्दुस्पर्शे रसार्द्रता ।
कृष्णलीलाब्धिजा जन्तोर्न कदापि निवर्तते ॥ १ ॥
तानेव श्रीमदाचार्यचरणानाश्रये मुदा ।
तेनैव मम तद्वाक्यबोधो बोध्यो हि जायते ॥ २ ॥
पुष्टिमार्गादिलीलाभिः स्वानन्दं पूरयन्निजम् ।
स्वाश्रयं कुरुते यश्च तमहं कृष्णमाश्रये ॥ ३ ॥

अथात्राश्रयो द्वेधा निरूप्यते मर्यादापुष्टिभेदेन । तत्र मर्यादया य आश्रयः स तु स्फुट एव सर्वत्र व्याख्यातः । पुष्टिमार्गीयस्तु गूढः, स च परोक्षवादेन साधनफलस्वरूप-निरूपणपूर्वकं निरूप्यते । तत्रापि कालादिपदसाधनानां फलासाधकत्वं वदन्त आश्रयं संभावयन्ति । एवं सति यादृशः पुष्टिमार्गीयाणामाश्रयस्तादृशोऽत्र निरूप्यते प्रकारसहित इत्यवगम्यते । तथाहि प्रथमं परमकृपालुः साक्षाद् भगवान् स्वयं निरुपधिकृपावशात् स्वपुष्टिफलदानेच्छया यं वृणुते तस्य तदारभ्य स्वत एवोद्भूतसहजानुरागतो भगवत्सेवा-प्रवृत्तिर्भवति न तु तद्व्यतिरिक्तधर्मेषु । ततस्तादृशानुरागपूर्वकसेवादिकरणोल्लसित-प्रेमासक्तिजनितपुष्टिमार्गीयभावाङ्कुराणां 'भगवता सह संलाप' इत्याद्युक्तप्रकारका-धनाया अवश्यसंभवात्तत्र तद्धर्मबाधके विजातीयसङ्गानुरोधादन्तःस्वरूपानुभवप्रतिबन्धे सति तदपेक्षाजनितार्त्या भगवद्व्यतिरिक्तस्य तन्निवृत्तेरशक्यत्वाच्छरणगतिरुत्पद्यत इति श्रीमदाचार्यचरणास्तत्स्वरूपनिरूपणपूर्वकं श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रं निरूपयन्ति सर्वेति ।

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।
पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

तादृशपुष्टिमार्गीयस्य सर्वे मार्गाः प्रमाणरूपाः कर्मादयो नष्टाः, एक एव प्रमेय-स्तिष्ठति, यतस्तेषु फलत्वासाधकत्वबुद्ध्याऽरुचिरेवेति तत्त्यागकरणान्नष्टा एवेत्यर्थः, अथवा 'णशँ अदर्शने' इति धात्वर्थविचारेण नष्टा अज्ञाता वा । तेषां दर्शनज्ञानयोरप्येता-

प्रतिबन्धकत्वादितिभावः । ननु भक्तानां कलिकालः साधको भवतीति तन्निष्ठमार्गाणां कथं तथात्वमिति पुष्टिमार्गीयाणां तस्य वाधकत्वमाहुः खलधर्मिणीति । कालस्तु प्रमाणभूतः, प्रमाणं साक्षात्स्वरूपं न कथयतीति तद्व्यतिरिक्तस्य सर्वस्य सदोषत्वमेवेति तन्नष्टत्वात् खलो दुष्टो धर्मो धर्मकर्तापि यत्रेति। यद्यपि 'कलेर्दोषनिधे राजन्' 'कलिं सभाजयन्ती'त्यादिवचनैः कलेर्भगवद्भजनानुकूलत्वमुक्तं, तथाप्यधुनानवतारसामयिकत्वे-नाधिदैविकरूपत्वाभावात् पुष्टिमार्गीयान् प्रत्यानुकूल्यस्य नष्टत्वमेवेति तथोक्तम्। भौतिककालस्य प्रमाणरूपत्वेन मर्यादोक्तविधिना तेषां भजनं न पुष्टिरीत्या। फलमपि मुक्तिरेव न ततोऽग्रिमकक्षापन्ना। अत एव पाषण्डप्रचुरे लोके इत्युक्तम्। धर्मिव्यतिरेकेण केवलधर्मस्य सोपाधिकत्वात्तथोक्तमितिभावः। तानेव धर्ममार्गानुत्तरश्लोकेष्वसाधकत्वेन वक्ष्यन्ति। एवं सति तत्तत्काले तत्तद्धर्माचरणे तेषां दोषबुद्धिरेवोत्पद्यत इति तत्समक्षं तत्तत्काले प्रमाणातिरिक्तं न कर्तुं शक्यत इति कालस्य भावोद्बोधे प्रतिबन्धकत्वादसाधकत्वं निरूपितम्। चकाराद्गृहेपि तथा। 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मत' इतिवचनात्तत्रापि सेवाकरणे क्रमेण स्नेहासक्तिजनितभावनाया जातत्वात्तत्रत्यानां तदभावात्तत्सङ्गोस्य बाधको विजातीयभाववत्त्वादित्यर्थः। अथवा, एवं पुष्टिमार्गीयस्य कालतदुक्तमार्गाणां प्रतिबन्धकत्वं निरूप्य तस्य स्वधर्माचरणप्रकारमाहुः—पाषण्डेति। लोके पुष्टिमार्गीये पाषण्डप्रचुरे सति तत्संसर्गेण भावापेक्षया दोषबाहुल्ये सतीत्यर्थः। यद्वा, पाषण्डो नाम स्वान्तर्निष्ठधर्मगोपनेन बहिरन्यधर्मकरणं तदेव प्रचुरो यस्मिंस्तादृशे सति। यथा न कोपि जानाति तथा कर्तव्यमापन्नमितिभावः। एवं सत्येतावत्प्रतिबन्धके विद्यमाने तत्संसर्गेण पूर्वोक्तभावनाप्युच्छलितत्वाभावात्फलाभाव इति तादृशस्य प्रतिबन्धनिवर्तकः साक्षाद्भगवानेव नान्य इति कृष्ण एव गतिर्ममेतिशरणमुपदिष्टम्। शरणं गते कृपया स एव सर्वं करिष्यतीतिभावः॥ १ ॥

ननु तर्हि भगवल्लीलाप्रदेशेषु गत्वा स्वधर्मनिर्वाहः कर्तव्य इति चेत्तत्रापि प्रतिबन्धबाहुल्येन देशानामसाधकत्वेन शरणमेव निरूपयति म्लेच्छेति।

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम॥ २॥

मलिनपदार्थमेवेच्छन्तीति म्लेच्छा विषयिणो, मन्त्राद्युपासकाः, कर्ममार्गीयाश्च। यद्यपि तेऽनिषिद्धं विहितमेव कुर्वन्ति तथापि स्वार्थपराः 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ती'त्युक्त्या कर्मफलं मलिनमेवेति तत्पराणां तथात्वेन निर्देशः कृतः। तादृशैस्तैराक्रान्ताः सर्वे प्रदेशा, अत एव तत्तल्लीलादीनां तिरोभावान्न ते साधका इतिभावः। यद्यपीदं तु भगवदीयत्वादनुकूलमेव किन्तु भावे वैजात्यमात्रेण तस्य बाधकत्वम्। तावतापि

यत्र प्रतिबन्धकत्वं तत्र केवलविषयाविष्टसम्बन्धिदेशसंसर्गेण भावनाशे किमु वक्तव्यमिति कैमुतिकन्यायेनापि देशस्यासाधकत्वं निरूपितम् । किञ्च, न केवलमाक्रान्तिमात्रं किन्तु तद्रूपमय एव जाता इत्याहुः पापैकनिलयेष्विति । कर्मणां हिंसाप्रचुरत्वात्तथोक्तम् । एतेन तत्र गमनमात्रेण तत्सम्बन्धात्स्वधर्मनाशो भवतीतिभावः । एवं सति भगवतो मन्त्रोपासनाद्यस्पृष्टत्वेनास्मिञ्छ्लोके मन्त्रोपासनवैदिकतान्त्रिकदीक्षार्चनानां सङ्ग्रहेणासाधकत्वं निरूपितम् । आदिपदेन विहितभक्त्यादीनामपि तथेत्यर्थः । ननु तत्रापि केचन निवृत्तिपरा भविष्यन्तीति चेत्तत्राहुः सत्पीडेति । निवृत्तिपरत्वेन सद्रूपाणि तत्रत्यानां देहेन्द्रियादीनि तेषां पीडा सत्पीडा, तद्देशसम्बन्धे तानि विषयाविष्टान्येव भवन्तीति तन्निग्रहाशक्यत्वान्निवृत्तिपराणां खेदो जायत इति तद्रूपैव स्वधर्मनाशजनिता पीडा, तया व्यग्राः कथमस्माकं परलोकः सेत्स्यतीति व्यग्रा लोका धर्मशीला येषु । 'यत्र स्थूलदृष्टीनामपि न धर्मनिर्वाहस्तत्रातिसूक्ष्मेक्षिकाणां तादृशानां भाववैधित्वे किमु वाच्यम् । तादृशानामग्रेऽपि स्यात्तुमशक्तेरितिभावः । तथाचोक्तं 'अस्माकं तत्प्रभृति नान्यसमक्षमि'-त्युत्र विवरणे 'यथा व्याघ्राग्रे देहाभिमानी'ति फलप्रकरणे । अतस्तद्भावपोषणे प्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थं शरणमेव भावनीयमिति कृष्ण एव गतिर्ममेत्युक्तम् । अत एव'धार्लौकिकमनःसिद्धावि'ति विवेकधैर्याश्रयेऽप्युक्तम् ॥ २ ॥

एवं दुःसंसर्गेण देशानामसाधकत्वं निरूप्य तत्र भगवद्भक्ता अपि सन्ति ते समीचीनास्तैः सह सङ्गो न बाधक इत्याशङ्क्य द्रव्याणामशुद्धया दुष्टस्य तेषामपि सङ्गो बाधक इतीतरमार्गीयाणामसाधकत्वमाहुः गङ्गादीति ।

गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

गङ्गादितीर्थवर्या भक्ताः । अयं भावः—'अस्ति गङ्गायां त्रिरूपमि'ति सिद्धान्तमुक्तावल्यां स्फुटीकृतं, तत्त्रिविधत्वमत्रापि ज्ञेयम् । तेन जलरूपाधिभौतिकादिभेदैः प्रवाहभक्तिमार्गीयज्ञानमार्गीयमर्यादाभक्तिमार्गीया भक्ता निरूपितास्तत्र प्रथमं प्रवाहभक्तिमार्गीयाणामसाधकत्वं निरूपयन्ति । यद्यपि गङ्गापदस्यादौ निरूपणाद्गङ्गाया मर्यादाभक्तिमार्गीयभक्तत्वात्तन्मार्गीयभक्तानामेवादौ निरूपणं संभवति तथाप्याधिभौतिकादिक्रमेण परिदृश्यमानप्रवाहजलस्यैव प्रथमनिरूपणादत्राप्यादौ प्रवाहभक्तिमार्गीया ज्ञेयाः । अग्रिमाणामुत्तरश्लोकेषु निरूपणम् । तथाच पदसम्बन्धः, गङ्गा देवी आदिर्येषां तानि गङ्गादीनि, तस्या एवाधिदैविकादिरूपाणि, तद्रूपा एव 'तीर्थभूता'आदिसाधकत्वान्नाद्भक्ताः, परन्तु दृश्यमानजलादिरूपाक्रमेण प्रवाहमार्गीया एव । कर्ममार्गीयापेक्षयोत्तम

ज्ञापनाय 'वर्ये'पदम् । तादृशेष्वपि दुष्टैरेव स्वरूपापेक्षया तद्दोषैरित्यर्थः । तादृशैर्धर्मैरन्तै-ष्वाच्छादितेषु सत्सु, धर्मा एव तेषां धर्मिस्वरूपज्ञाने आवरका जाताः । ननु भगवद्ध-र्मनिष्ठेषु कथं तद्धर्माणामावरकत्वं तत्राहुः–तिरोहिताधिदैवेष्विति । तिरोहितमधिदै-वस्वरूपं येषु । यथा जलप्रवाहे मूर्तिमत्या गङ्गायास्तिरोधानं तथा प्रवाहमार्गेपि साक्षा-त्पुरुषोत्तमस्वरूपतिरोधानम् । विभूतिरूपस्यैव तेषां भजन तद्रूपमेव फलं, न तत्राधिदैवि-कभजनं फलं चेति द्रव्याशुद्ध्या पुष्टिमार्गीयाणां तत्सङ्गो न साधक इति शरणगतिमे-वोपदिशन्ति कृष्ण एवेति । अत एवा'र्थफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्ति सा सेवानाधिदैविकी'त्युक्तं सेवाफले । प्रकृते तु आधिदैविकस्वरूपस्यैव सर्वस्य साधक-त्वादाधिदैविकरसात्मकसदानन्दस्वरूपज्ञापककृष्णपदमेवोक्तं सर्वत्र शरणागतौ । एतेन तद्व्यतिरिक्तस्वरूपस्य शरणमपि न साधकमित्यपि सूच्यत इति सुष्ठूक्तम् ॥ ३ ॥

ननु ज्ञानिनो निर्दोषाः समयुद्ध्य एकान्तस्थितयः तत्सङ्गः साधको भविष्य-तीति तेषामपि मायामोहितत्वात्साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धाभावेनासाधकत्वं निरूपयन्तः कर्तॄणां तन्निरूपयन्ति–अहङ्कारविमूढेष्विति ।

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।
लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

ते तु 'अहं ब्रह्मास्मी'त्यहङ्कारेण विशेषेण मूढा, नहि तत्र साक्षात्पुरुषोत्तमस-म्बन्धः, किन्त्वक्षरमात्रसम्बन्धेन तन्मात्रस्यैव परमफलत्वं मन्यन्त इति सेव्यसेवकभाव-स्यापि गतत्वाद्विशेषेण मूढास्तादृशेषु सत्सु । ननु अविद्यानिवृत्तौ अनुभवरूपे विज्ञाने सम्पन्ने ब्रह्मणि लयो भवतीति कथं तेषां मोहः संभवतीति तत्राहुः पापानुवर्ति-ष्विति । 'स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन' इतिवाक्यात्पुष्टिमार्गीयाणा फले प्रति-बन्धकत्वात्साक्षात्पुरुषोत्तमज्ञानाभावरूपस्य तादृशज्ञानस्य पापत्वात्तदनुवर्तिनां पापा-नुवर्तित्वमेवेति तथोक्तम् । किञ्च, तादृशस्य पुनरक्षरलयानन्तरं पुष्टिफलसंभावनैव नास्तीति ज्ञापनाय पापरूपत्वं विशेषेण मूढत्वं चोक्तम् । ननु तथाप्यानन्दानुभवो भविष्य-तीति तत्राहुः–लाभपूजार्थयत्नेष्विति । तन्मार्गे न साधनदशायां न च फलदशायां अनुभवः, यतो लाभः आत्मलाभः पूजा तत्साधनार्थं मनस्येव कल्पितमूर्तेरुपासनारूपा, तदर्थमेव यत्नो येषां तादृशेषु । नह्यात्मन ऐक्ये सर्वेन्द्रियाणां सार्थकता, नाप्यानन्दानु-भवज्ञानं च, यथा जले निमग्नस्य जलपानम् । बहिरेव पाने तदनुभव इति न तेषामानन्दा-नुभवोपि । प्रकृते तु पुष्टभावापन्नस्य 'भगवता सहे'त्यादिरूपभावनायामपि सर्वेन्द्रियाणां साक्षात्स्वरूपानुभवो, बहिःप्राकट्ये तदनुभवे किं वाच्यमितिभावः । तदुक्तं 'निरोधवर्णने

'सङ्कल्पादपि तत्र हि' 'दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टमि'त्यादिना । एवं सति पुष्टिमार्गीयस्य न तत्सङ्गः साधक इति शरणमेव निर्दिशन्ति कृष्ण एव गतिः ॥ ४ ॥

ननु ज्ञानिष्वपि केचन भक्ता भवन्ति, तत्रापि प्रेमयुक्ताः, ते पुनर्द्विविधाः केचन नामनिष्ठाः केचन सेवैकनिष्ठास्तेषां सङ्गः साधको भविष्यति, तथाचोक्तं 'सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः' 'सतां प्रसङ्गा'दित्यादिनेत्याशङ्क्य तयोरपि साधकत्वाभावात्प्रथमं नामनिष्ठानामसाधकत्वं वदन्तो मन्त्राणां तन्निरूपयन्ति अपरिज्ञानेति ।

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।
तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

यद्यपि 'एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत'मित्यत्र 'मन्त्रोऽप्येकस्तस्य नामानि यानी'त्युक्तया भक्तानां नामैव परो मन्त्रः तत्कीर्तनपराः समीचीना एव तेषां तत्कीर्तने तदानन्दानुभवजनिताश्रुपुलकादयोऽपि भवन्ति तथापि तेषां मर्यादामार्गीयत्वात्स्वरूपतोऽपरिज्ञानमेवेति तेषु मन्त्रेषु नामरूपेष्वपरिज्ञानेन नष्टेषु अलक्षितेषु सत्सु । यादृशः कृष्णपदस्य रसात्मकभावरूपोऽर्थस्तदपरिज्ञानादलक्षितत्वमुक्तम् । ननु कथं सोऽर्थो न लक्षितस्तत्राहुः—अव्रतयोगिष्विति । व्रतं अनन्यत्वं पतिव्रतावत्पतिविषयकपरमानुरागजनितरसात्मकभावेन तदेकनिष्ठारूपं, तदभाववतोऽव्रताः पूर्वोक्ताः, तादृशेषु योगः संयोगो येषामिति तथात्वमुक्तम् । ननु तेष्वपि नामधर्माणां दृश्यमानत्वात्कथमेवमुच्यते तत्राहुः—तिरोहितेति । तिरोहितः अर्थो रसात्मकस्वरूपेण यः प्रकटः स यत्र तादृशेषु सत्सु अत एव मुकुन्द ! नारायण ! यज्ञेश्वर ! ज्ञाननिधे ! वासुदेवेत्यादीनि मोक्षेच्छुभिरुच्यन्ते नहि पुष्टिमार्गीयैरिव 'व्रजजनार्तिहन् वीरयोषिताम्' 'सुरतनाथे'त्यादीनि रसात्मकानि । तेषां मर्यादामार्गानुसारेणैव तदनुभवो भवति न पुष्ट्यनुसारेणेति न तत्सङ्गस्तत्र साधक इति शरणमेवोपदिशन्ति कृष्ण एवेति ॥ ५ ॥

ननु ये सेवापरास्ते तत्सर्वविनियोगेनानन्यव्रतेन सेवां कुर्वन्तीति न तेषु व्रतत्वमिति साधका भविष्यन्तीत्याशङ्क्य तेषामसाधकत्वं वदन्तः कर्मणां तदाहुः नानावादेति ।

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।
पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

यद्यपि ते पूर्वोक्तापेक्षया सर्वोत्तमास्तथापि तेषां मर्यादामिश्रत्वात्सर्वकर्मव्रतादिषु सर्वं पुष्टिमार्गीयं यावत्प्रमेयं कर्म तन्मार्गीया सेवा 'भगवता सहे'त्यादिरूपा

लोकवेदनैरपेक्ष्येण केवलस्वरूपमात्रैकनिष्ठत्वं, आदिपदेन तन्मार्गीयश्रवणकीर्तनादीनि ज्ञेयानि, तेषु नानावादविनष्टेषु सत्सु। नानावादा अनेकविधप्रमाणवचनानि मर्यादामार्गीयाणि आवरणरूपाणि, तैः कृत्वा विशेषेण नष्टा अलक्षितास्तादृशेषु सत्सु। तेषां मर्यादामिश्रत्वेन विहितैकदृष्टित्वात्, न तज्ज्ञानमितिभावः। अत एव 'मर्यादया गुणज्ञास्ते' इति निरूपितं पुष्टिप्रवाहमर्यादायाम्। ननु तेपि भक्तिमार्गनिष्ठया सेवादिकं कुर्वन्तीति कथं तदज्ञानं तत्राहुः—पाषण्डैकप्रयत्नेष्विति। पाषण्डो नामोपाधिस्तद्रूप एवैकः प्रयत्नस्तदनुकूलसाधनरूपो येषां तादृशेषु। तेषामपि मिश्रत्वेन पुरुषोत्तमसायुज्यैकफलत्वात्तत्प्रयत्नादीनां पुष्ट्यपेक्षयोपाधिरूपत्वमेवेति तथा निरूपितम्। अत एव मध्यमफलत्वं सायुज्यस्य निरूपितं सेवाफले 'सेवायां फलत्रयमि'त्यनेन। किञ्च, सायुज्यस्य मर्यादाभक्तिमार्गैकफलत्वं तत्त्वार्थदीपे निरूपितं 'सर्वत्यागेनन्यभावे' इत्यनेन। पुष्टिफलं तु केवलं तादृशानुग्रहभरेण सर्वात्मना निरुपधिभावैकसाध्यमिति तादृशस्यापि सङ्गो न साधक इति शरणमेव निरूपयन्ति कृष्ण एव गतिर्ममेति ॥ ६ ॥

नन्वेवं सकलमार्गीयसाधनफलानां बाधकत्वेन पुरुषार्थरूपत्वाभावात्पुष्टिमार्गीयस्य के पुरुषार्थाः? कीदृशया वा कथं वा सिद्धा भविष्यन्तीति प्रश्ने तादृशस्य भगवानेव चतुर्विधपुरुषार्थरूपः, तत्सिद्धौ शरणमेव साधनं नान्यदिति भगवतस्तद्रूपनिरूपणपूर्वकं चतुर्भिः श्लोकैः शरणं निरूपयन्ति। तत्र प्रथमं धर्मरूपत्वेन निरूपयन्ति—अजामिलादिदोषाणामिति।

अजामिलादिदोषाणां नाशकोनुभवे स्थितः।
ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

'पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मोर्थो हरिरेव हि। कामो हरेर्दिदृक्षैव मोक्षः कृष्णस्य सो[illegible]द्ध्रुवमि'त्यत्रोक्ताः पुरुषार्था मर्यादामार्गीयेभ्यो भिन्ना उपाधिरहिता इति। तत्र हरेर्दास्यं [illegible]र्म उक्तः। तच्च 'पुरुषभूषण देहि दास्यमि'त्यत्र स्वरूपात्मकत्वेन निरूपितमिति भग[illegible]तो धर्मरूपत्वं सिद्धम्। एवं सति धर्मेण यथा दोषनिवृत्तिर्निर्दोषतासिद्धिश्च भवति [illegible]या भगवान् स्वरूपेणैव दोषनिवर्तक इष्टप्रापकोपि भवतीति धर्मनिरूपणपूर्वकं शरणं निरूपयन्ति। तथाहि—अजामिलादयः प्रबलदोषदुष्टास्तद्रूपा अत्र सकलेन्द्रियसङ्घा[illegible]स्तेषां दोषाणां नाशकः स्वरूपेणैव न साधनैः। अयं भावः, पुष्टिमार्गीयस्य स्नेहोत्पत्त्य[illegible]न्तरं 'स्वव्यसनतः स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन क्रियमाणायां 'भगवता सह संलाप' इत्याद्युक्त[illegible]कारकभावनायामन्तर्लीलासहितसाक्षात्स्वरूपप्राकट्ये सति या सेवोत्तमपुष्टिरूपा तत्रेन्द्रि[illegible]णां प्राकृतपदार्थसंसर्गदर्शनस्मरणादिना यः प्रतिबन्धः सोत्र दोषस्तन्नाशकः। [illegible]थाऽजामिलस्य नाममात्रेण दोषा दूरीकृतास्तथा प्रकृते तादृशस्य मिथो गुणगान-

रक्षणनामात्मकलीलया तत्तदिन्द्रियाणां दोषं नाशयतीति तथोक्तम् । अनेन दोषनिवृत्तिधर्मकार्यमुक्तम् । इष्टप्राप्तिं निरूपयन्ति अनुभवे स्थित इति । दोषं दूरीकृत्य तत्तदिन्द्रियादिषु स्वयं स्थितो भूत्वा स्वरूपानन्दमनुभावयतीतिभावः । अनेनेष्टप्राप्तिरूपं धर्मकार्यमुक्तम् । एतत्सर्वं निरोधवर्णने 'संसारावेशदुष्टानामि'त्यारभ्य 'हरिवत्सुखमि'त्यन्तेन स्फुटीकृतम् । ततोपि विशेषमाहुः—ज्ञापिताखिलमाहात्म्य इति । ज्ञापितमखिलं पुष्टिलीलारूपं माहात्म्यं येन । अत एव व्रजस्थितानामपि च लीलानुभवः । पुष्टिप्रवाहमर्यादायामपि 'पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञा' इत्युक्तम् । भगवति साक्षादन्तःप्रकटे तल्लीलाधर्माणामप्याविर्भावात्तज्ज्ञानमप्याविर्भवतीति न किञ्चिदनुपपन्नम् । एवं सति तादृशस्य तादृग्भावपोषणादौ ईदृग्धर्मरूपो भगवानेव शरणमिति कृष्ण एव गतिर्ममेत्युक्तम् ॥७॥

ननु तेषामिन्द्रियादीनां प्राकृतत्वात्तदधिष्ठातॄणां च तथात्वात्कथं दोषनिवृत्तिरित्याशङ्क्य तेषां सर्वसङ्घातरूपः कृष्ण एव भवतीति तस्यैवार्थरूपत्वं निरूपयन्तः शरणगतिमाहुः—प्राकृता इति ।

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।
पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात्कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

प्रपञ्चनिरूपणप्रस्तावे 'जडे सदंशः प्रकट इतरावच्छन्नौ, जीवे आद्यौ प्रकटौ आनन्दांशस्तिरोहित' इतिनिरूपितम् । पुष्टिमार्गीयस्य तु साधनदशायां सेवागुणगानादिपरस्य स्वत एवानन्दांशः प्रकटो भवति । तथाचोक्तं सिद्धान्तमुक्तावल्यां 'ततः संसारदुःखस्ये'ति । तत्रैव पुनः विवरणे 'यद्यप्यनभिलषिते ते तथापि वस्तुस्वभावाद्भवत' इत्युक्तम् । सिद्धान्तरहस्येपि 'सर्वेषां ब्रह्मता तत' इत्युक्तम् । 'सच्चिदानन्दता स्वत' इति निरोधविवरणेप्युक्तम् । एवं सति ये पूर्वं प्राकृता देवा इन्द्रियाधिष्ठातारस्ते सच्चिदानन्दरूपाक्षरात्मकत्वे सम्पन्ने पुरुषोत्तमाविर्भावात्सकला जाताः । कला रसात्मकब्रह्मविद्यारूपा तत्सहिता जाताः । गणितानन्दरूपमक्षरं ब्रह्म, 'क'प्रत्यये ततोपि ह्रस्वोतितुच्छो जीवः स बृहज्जातस्तदपेक्षयापि महान् जातः । उभयत्र हेतुः पूर्णानन्दो हरिरिति । यतः सर्वेषां सच्चिदानन्दत्वे सम्पन्ने पुरुषोत्तमाविर्भावाचत्संबन्धिरसात्मका भावा उत्पद्यन्त इति तज्जनितमधुरार्तिशान्त्यर्थमन्तस्तत्तदिन्द्रियादितत्तत्स्वरूपः स्वयमेव भूत्वा सर्वेषु तेषु पूर्णस्वरूपानन्ददानेन दुःखं हरतीति तथोक्तः । एवं सत्यक्षरात्मत्वेनाप्राकृतत्वे किं वाच्यम् । किन्तु तस्य सर्वसङ्घातः साक्षाद्रसात्मकलीलारूपपूर्णानन्दभगवद्रूप एव भवतीति कुतस्तत्र दोषावकाश इतिभावः । तदेव 'श्रीमद्'

कुलजीवात्मा श्रीमद्गोकुलमानसमि'त्याद्युक्तम् । यत एवं भगवत एवार्थरूपत्वं तस्मात्तस्य तथात्वसिद्ध्यै शरणमेव साधनमिति तन्निरूपयन्ति कृष्ण एवेति ॥ ८ ॥

एवमर्थरूपं निरूप्यैतादृशस्य प्रचुरार्तिशान्त्यर्थं बहिःप्रकटस्य कोटिकन्दर्पलावण्यसाक्षाद्भगवतः सङ्गस्यैवापेक्षितत्वात्कामरूपत्वं निरूपयन्तः शरणं प्रार्थयन्ति विवेकेति।

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

अत्रेदमाकूतम् । पुष्टिमार्गीयभावाविर्भावानन्तरं विरहानुभवार्थे त्यागस्यावश्यकत्वात्त्यागानन्तरं पुनः क्रमेण मिथो गुणानुवादजनितप्रचुरभावानामुच्छलितत्वात्तादृशस्य देहप्राणेन्द्रियान्तःकरणादीनि स्वरूपात्मकानि भवन्तीति पूर्वश्लोकद्वयेन निरूपितम् । एतावत्पर्यन्तं विरहानुभवे चक्षूरागादित्रपानाशान्ताः सप्तावस्थाः संपन्नाः । अस्मिञ्छ्लोके उन्मादाद्यवस्थात्रयं निरूप्यते । तथाहि—विवेकः, धैर्यं, भक्त्यादयस्तै रहितस्य । विवेकराहित्ये विक्लत्वं भवति यतो वैकल्ये विवेको न तिष्ठति । तच्चोन्मादावस्थायां भवतीति सा निरूपिता । धैर्यराहित्येनाहर्निशं साक्षात्सङ्गाभावजप्रचुरार्तिजनितमस्वास्थ्यं तिष्ठति । ननु पूर्वं गुणगानेऽन्तः साक्षादनुभवस्योक्तत्वात्कथं धैर्याभावेनास्वास्थ्यं तत्राहुः—भक्त्यादिरहितस्येति । गुणगानदशायां पूर्वमन्तःप्राकट्ये साक्षाद्भक्तिरूपमुखारविन्दसुधास्वादात् । आदिपदेन साक्षाद्भोगः । साक्षाद्भोगस्याप्यनुभवात्स्वास्थ्यं [illegible]थतमिदानीं प्रलापावस्थायां फलप्रतिबन्धकत्वेन साक्षात्सुधादानतदुपयोगिवाक्याद्य[illegible]रणादस्वास्थ्यमेव तिष्ठतीति तद्रहितस्येत्युक्तम् । तत्रापि यत्किञ्चित्स्वास्थ्येपि फलप्र[illegible]बन्धकत्वेन विशेषतो रहितस्येत्युक्तम् । तथाचोक्तं संन्यासनिर्णये 'भगवान् फलरूप[illegible]त्' 'स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्य'मित्यादि । एवमस्वास्थ्येपि स्वास्थ्यवाक्याद्यकरणे प्रचु[illegible]र्त्या मूर्च्छामापतति सा दशा निरूपिता । ततः पुनर्जागदवस्थायां स्वरूपस्थितौ सङ्ग[illegible]वेन स्यातुमशक्तं गुणावलम्बितचित्तं पुनर्भवति तेन च यत्किञ्चित्स्वास्थ्ये तदेव फले[illegible]तिबन्धकं भवतीति तस्य पापरूपत्वमिति तत्रासक्तस्येत्युक्तम् । अत एवोक्तं 'ज्ञान[illegible]णाश्च तस्यैव वर्तमानस्य बाधका' इति संन्यासनिर्णये । ततः पुनः क्षणानन्तरं स्थितिरेव न [illegible]तीति दशम्यवस्था निरूपिता । एतत्सर्वं फलप्रकरणीयतृतीयाध्यायान्ते स्फुटीकृतम् । [illegible] गुणगानानन्तरमनाविर्भावे मूर्च्छान्तावस्थानिरूपणपूर्वकं लीलाप्रवेशप्रलापः स्वरूप[illegible]तौ गुणगानमिति निरूपितम् । अग्रे पुनरतिदैन्ये जाते 'रुदन्तुः सुस्वरं' 'तन्वः प्राण[illegible]गत'मित्यादिनाग्रिमा सा सूचितेति सर्वमुपपन्नम् । एतादृशस्य पुनः शीघ्रमाविर्भावार्थं [illegible]णमेव भावनीयमिति कृष्ण एव गतिर्ममेत्युक्तम् । एतदनन्तरं सर्वथाऽऽविर्भूय परमा-

न्दं ददातीति ज्ञापनाय कृष्णपदं, शरणं निरूपितम्। तथाचोक्तं 'ब्रह्मा विष्णू रुद्रश्च भूत्वा पुनः कृष्ण एव जात' इति 'तासामाविरभूत्कृष्ण' इत्यस्याभासे ॥ ९ ॥

एवं दशावस्थाभिः पूर्णविप्रयोगानुभवे जाते प्रतिबन्धकदेहनिवृत्तौ तस्याऽलौकिकं रसात्मकं लीलोपयोगिदेहादिकं संपाद्य स्वयं साक्षात्प्रकटीभूय बहिः स्वरूपानन्दं ददातीति मोक्षरूपत्वं निरूपयन्ति सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृदिति ।

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।
शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥
कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।
तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

सर्वं यावदलौकिकैश्वर्यवीर्यादिगुणानां कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं यत्सामर्थ्यं तत्सहितः सन् तं प्रति स्वरूपानन्दं दातुं स्थितो भवतीत्यर्थः । एतदेवोक्तं 'भगवानपि ता रात्री'-रित्यत्र 'भगव'त्पदेन स्वतन्त्रालिखने । ननु प्रभोः सर्वं संभवति परं तादृशेन प्रभुणा सह साम्येन स्वरूपानुभवः कथं सुवचो जीवस्य तत्राहुः सर्वत्रैवाखिलार्थकृदिति । 'पुष्टिं कायेने'तिवाक्यात्तादृशं तं भक्तं साक्षाद्रसात्मकस्वचरणारविन्दमकरन्दरजसाऽलौकिकदेहादिसम्पत्तिपूर्वकं लीलासमाजे प्रकटीकृत्य सर्वत्रैव देहप्राणेन्द्रियादिष्वखिलार्थान् रसात्मकालौकिकवयोगुणादिरूपानलौकिकैश्वर्यगुणादिसामर्थ्यरूपान करोतीति तथोक्तम् एवालौकिकसामर्थ्यं पुष्टिफलं निरूपितं सेवाफले। एतत्सर्वं 'यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्र' इत्यस्य विवरणे स्फुटीकृतं 'स्वसामर्थ्यादियोजने'त्यादि। एवं स्वरूपात्मकतां संपाद्य स्वरूपानन्दं ददातीति मोक्षरूपत्वं निरूपितम् । अत एव 'मोक्षः कृष्णस्य चेद्ध्रुव'मित्युक्तम् ननु मोक्षे आनन्दमग्नता तिष्ठति प्रकृतेपि यथैव चेत्स्यात्तदा कथं लीलानुभव इत्याहुः शरणस्थसमुद्धारमिति । अत्र शरणपदं सर्वात्मभावपरम् । अलौकिकसृष्टिः सर्वेषामभावस्यैवेति शरणस्थस्य-सर्वात्मभावस्यस्य-पूर्वोक्तभक्ततत्तल्लीलानन्दसमुद्रमग्नस्य-तत उद्धारं करोतीति शेषः । अन्यथैकस्यां लीलायां मग्नस्य द्वितीया साननुभूतैव तिष्ठत् । एतत्सर्वं 'र एतद्विमुच्यत' इत्यत्र स्फुटीकृतम् । यद्वा, लीलानुभवदशायामपि तत्प्रभावादेव दैन्यं उत्पद्यत इत्यपि ज्ञापनाय शरणस्थेतिपदम् । अथवा, अतःपरं सर्वांशेन शरणस्था जा इति वा ज्ञापनार्थं शरणे स्थित्यर्थं उक्तः। तथासति शरणसमाप्तिर्ज्ञापिता। किञ्च, एवं स्वरूपानन्दानुभवानन्तरं श्रीमदुद्धवोपदिष्टज्ञानेन यादृशो निरोधः सिद्धस्तादृशो नि पित इति ज्ञापनायोद्धारे सम्यक्त्वमुक्तम् । एवं सति सदा फलरूपपूर्णनिरोधस्थित्यनु

ताः स्वरहस्यं सर्वं कथयन्तीति तासां गुरुत्वं निरूपितं संन्यासनिर्णये । अतिप्रियाय गुरुः स्वरहस्यं कथयतीत्युक्तत्वात् । एवं सति तद्वल्लभत्वेन प्रभोरपि परमप्रेमास्पदीभूत इति तदुक्तं सर्वमङ्गीकृतं भगवतेति ज्ञापितम् । अत एव यतोऽङ्गीकृतमिति हेतोरत्रवी-दित्याह, फलमित्यर्थः । किञ्च तद्वल्लभत्वेन भगवदुक्ताङ्गीकारः स्वतः सिद्ध एवेति न पुनस्तदुक्तिः कण्ठोक्ता । अनेन फले सर्वथापि निःसन्दिग्धत्वं निरूपितमिति सर्वमवदातम् ॥ १०–११ ॥

अतिमलिनतराशये मदीये किमयमपूर्वतरोदयो विलासः ।
निरुपधिकरुणैकविभ्रमोपि वितरणशीलविभोरतोऽद्भुतं नः ॥ १ ॥
अतयतो महती किल ते कृपा मदपराधगणा अपि तादृशाः ।
उभयतौल्यविचारणया विभो विजयते तव सैव गरीयसी ॥ २ ॥
अदेयदानैकपरान् महौदार्यगुणैः स्वके ।
श्रीमदाचार्यचरणान् आश्रये करुणानिधीन् ॥ ३ ॥
प्रणतालोकसंजातकरुणादृष्टिभिः क्षणात् ।
संतापं हरति श्रीमद्विट्ठलेशं तमाश्रये ॥ ४ ॥

इति श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रविवरणं समाप्तम् ।

